2021

ISSN 2231-1041
Peer Reviewed

स्तोम

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

(वार्षिक शोध पत्रिका)

'शिवम्' सांस्कृतिक मंच, छपरा

ISSN- 2231-1041
Peer Reviewed

स्तोम

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

(वार्षिक शोध पत्रिका)

2021

संस्थापक :
चन्द्र किशोर सिंह, अधिवक्ता

आदि मुद्रक :
श्यामा सिंह

प्रकाशक :
'शिवम्' सांस्कृतिक मंच
छपरा

मुद्रक :
कुमार प्रिन्टर्स,
लाह बाजार, छपरा-841301

पत्राचार का पता :
प्रो० लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'
फ्लैट नं०- 108
न्यू टीचर्स फ्लैट
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)
मोबाईल नं० : 9835296330
ई-मेल : lawanyaks@gmail.com

पत्रिका के प्रकाशन से जुड़े सभी संगीतसेवी अवैतनिक हैं ।

प्रधान सम्पादक :
डॉ० लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

सह सम्पादक :
डॉ० कुमार विनय मोहन सिंह

'शिवम्' सांस्कृतिक मंच, छपरा

स्तोम

कलाभिव्यक्ति का माध्यम

(वार्षिक शोध पत्रिका)

सलाहकार मण्डल :
प्रो० पंकजमाला शर्मा
प्रो० द्वारम वी.जे. लक्ष्मी
विदुषी काजल शर्मा
प्रो० दर्शन पुरोहित

सम्पादक मण्डल :
प्रो० के० शशि कुमार
प्रो० संगीता पण्डित
डॉ० विधि नागर
डॉ० अनीता शिवगुलाम
डॉ० हिमांशु द्विवेदी

सहयोगी मण्डल :
प्रो० अर्चना अम्भोरे
प्रो० निशा झा
डॉ० अरविन्द कुमार
डॉ० ज्योति सिन्हा
डॉ० मधुरानी शुक्ला
डॉ० अवधेश प्रताप सिंह तोमर
डॉ० रवि जोशी
डॉ० शिखा समैया
डॉ० अमित कुमार पाण्डेय
डॉ० समीर कुमार पाठक

प्रबन्ध सम्पादक :
डॉ० कुमार विमल मोहन सिंह
डॉ० कुमार निर्मल मोहन सिंह

समर्पण

उन सभी कला-सेवियों को,
वैश्विक आपदा कोरोना-काल में
जिनके आकस्मिक निधन से
कला-जगत् मर्माहत हुआ

शिवम्-सरगम

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम् ।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्विकं शिवम् ।।

नृत् कला की इस दुनिया में,
है अपना नया कदम ।
जहाँ सुर का संगम होता,
वो सरगम बना शिवम् ।।

लेकर हम चाँद सितारे
आपस में प्रीत सँवारे ।
प्रीत के इस मंदिर में,
नित शीष झुकाते हैं हम ।।

संगीत हो मन्त्र हमारा,
अभिनय हो शस्त्र हमारा ।
हम नेक, एक, जग जीते,
यही नाद सुनाते हैं हम ।।

हो विकसित जग में कलायें,
संस्कृति की अलख जगाएँ ।
यही भावना हमारी,
यही लक्ष्य बनाते हैं, हम ।

मूल रचना : रविभूषण 'हँसमुख'
परिकल्पना : विनय मोहन 'वीनू'
संगीत : लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

सम्पादकीय....

शरीर की प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रिया पर तंत्रिका-तंत्र एवं मस्तिष्क का नियन्त्रण रहता है । इस क्रिया-प्रतिक्रिया में गतिरोध ही 'रोग' है जिसे व्याधि, बीमारी आदि संज्ञाएँ दी गई हैं । सांगीतिक स्वर हमारी तन्त्रिकाओं तथा मस्तिष्क को अपनी विशेषताओं के अनुरूप प्रभावित करते हैं । अनेकानेक प्रतिकूल परिस्थितियों में ध्वनि के प्रभाव के बाद उत्पन्न शारीरिक क्रियाओं का परिवर्त्तन ही 'सांगीतिक चिकित्सा' का अंश है । ध्वनि मन और पूरे शरीर को प्रभावित करता है । इसका प्रभाव मन और शरीर के पारस्परिक संतुलन पर पड़ता है । यही कारण है कि संगीत विशिष्ट तरंगों को उत्पन्न करने वाले स्वरों की सहायता से शरीर पर एक समय-विशेष में अत्यधिक प्रभावकारी होता है । संगीत का आकर्षण क्षण-विशेष में अलग-अलग होता है । विभिन्न आवृत्तियों के नाद-अनुनाद शरीर की कोशिकाओं पर इसीलिए अलग-अलग प्रभाव डालते हैं तथा संतुलन बिगड़ने पर उसे पुनः संतुलित करने में सहायक भी सिद्ध होते हैं । शारीरिक-मानसिक थकावट या तनाव के बाद किसी संगीत के श्रवण से प्राप्त आनन्द एवं शान्त-चित्त भी इसी का द्योतक है । हमारे प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे कई उद्धरण मिलते हैं । संतुलन बिगड़ने की स्थिति में शरीर में रोग होता है, तो कोई भी चिकित्सा-पद्धति उसे ही संतुलित करती है और संगीत भी इसमें उपयोगी और प्रभावकारी है क्योंकि मन-वांछित सांगीतक रचनाएँ हमारे मस्तिष्क पर अनुकूल प्रभाव डालती हैं । अनेक उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं । मानसिक चित्त-वृत्तियों में सहायतार्थ संगीत का श्रवण दैनिक-जीवन में भी दृष्टिगोचर होता है । थकान दूर कर क्षमता बढ़ाने, शक्ति-संचार करने, एकाकीपन दूर कर प्रफुल्लित करने, अन्तर्मुखी को बहिर्मुखी बनाने में यह कला लाभकारी है । हम देखते हैं कि कोई भी पद्यात्मक रचना अपनी संगीतात्मकता की शक्ति के कारण सुन्दर बन जाती है और शीघ्र याद भी हो जाती है, यह स्मरण-शक्ति के विकास में सहायक संगीत का ही परिणाम है । हाँ, यह मनःस्थिति के अनुकूल प्रयोग में लाए गए संगीत के कारण लाभदायक होता है । संगीत में भावों के शमन करने की नहीं, उत्तेजित करने की भी भरपूर शक्ति है । संगीत की इस गुणवत्ता को प्रमाणित करने के लिए देश-विदेश में अनेक प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं । इसका सकारात्मक प्रभाव देखा जा रहा है । इसमें कुछ अतिरंजना भी सम्भव है परन्तु जहाँ एक ओर भारतीय संगीत की मधुर स्वर-लहरियों से सारी दुनिया को मंत्र-मुग्ध करने का काम महान् कलाकारों ने किया है, वहीं अब विश्व-समुदाय को संगीत के चिकित्सकीय आयामों को दिखाया भी जा रहा है । सम्भव है, अतिरेक भी हो ।

वर्त्तमान समय में समूचा विश्व कोविड-19 जैसी आपदा से भयाक्रान्त है । इस आपदा ने हमारी मानसिक स्थिति को असंतुलित कर दिया, सभी अपनी सुरक्षा और स्वास्थ्य-प्रबंधन को लेकर मानसिक रूप से अवसादग्रस्त रहते हुए दिनचर्या में व्यस्त हैं । घरों में बन्द बैठने से आजीविका प्रभावित हुई है । जन-सामान्य घोर तनाव से गुजर रहा है । उद्विग्नता की पराकाष्ठा है । धीरे-धीरे-धीरे पूरी धरा की मानव-शक्ति ने बहुत हिम्मत और मानसिक रूप से द्वन्द्व से बाहर निकलने का प्रयत्न करना आरम्भ किया है और स्वयं कुछ व्यस्त करते हुए सकारात्मक ऊर्जा के साथ नव मार्ग-निर्माण का प्रयत्न किया है । इस विचारशील प्रेरणादायक कदम में हमारी इण्टरनेट की दुनिया ने महती साथ दिया जिसके माध्यम से हमने विचारों का आदान-प्रदान आरम्भ किया । मानसिक रूप से शिथिल हो रहे समाज में एक ऊर्जावान गति आ गई और सभी

नित नवीन योजनाओं में व्यस्त हो गए । अनेक विद्वान् चिन्तकों के व्याख्यान, सोदाहरण-व्याख्यान, राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठियाँ, प्रस्तुतियाँ आरम्भ हो गईं जिसने कला ही नहीं, सभी क्षेत्र में चेतना, विचार-चिन्तन-मनन की क्षमता में अद्‌भुत अभिवृद्धि की । कला-सेवी मात्र प्रस्तुति को प्रमुखता देते थे, शिक्षक मात्र पाठ्यक्रम पूरा करने की भावना से प्रेरित थे वहीं इस अवधि ने अभूतपूर्व मार्ग प्रशस्त किया । कहते हैं, आवश्यकता आविष्कार की जननी है, यह पुनः सिद्ध हुआ । प्रोमोशन हेतु आलेख लिखना, शोध-कार्य की उपाधि हेतु आलेख लिखना, मात्र पुस्तकों को आधार बनाकर पुस्तक लिखना आदि क्रियाओं के चतुर्दिक विकास में इन ऑनलाइन आयोजनों ने अद्‌भुत दृष्टि दी । घर-बैठे, अपने-अपने स्थान पर बन्द रहते हुए एक नवीन ऊर्जा का संचार हुआ, नयी अभिरुचि बनी, सोचने-विचारने-चिन्तन करने की अद्‌भुत शक्ति मिली । भाषा-शैली, विषय-प्रस्तुतिकरण, बोलने की कला, संवाद की कला आदि का अनूठा विकास हुआ । इतना ही नहीं, ऐसे आयोजनों में अद्‌भुत तीव्रता आई, दिनभर में अनेकानेक ऑनलाइन आयोजनों से विषयों की भरमार हो गई । जिनसे वर्षों से नहीं मिले उनसे ऑनलाइन ही सही, जुड़कर चित्त प्रफुल्लित होने लगा, जिन विद्वानों का नाम मात्र सुना था, जिनकी पुस्तकें मात्र पढ़ी थीं, उनसे रू-बरू होना, कितना आह्लादित कर रहा । संस्थाओं द्वारा व्यक्तिगत रूप से, सामूहिक रूप से, चाहे जैसे यत्र-तत्र-सर्वत्र व्यस्तताएँ बढ़ गईं । सोशल मीडिया के द्वारा इन आयोजनों की तकनीक से इस युग में ही पूरी तरह हम परिचित हो सके । मानव-जाति की आविष्कारी प्रवृत्ति को इस कोरोना ने ही पुनर्जीवित कर दिया । मालामाल कर दिया इस क्रान्ति ने संगीत जगत को । इस कला ने ही हमें यह मार्ग दिखाया और इसके द्वारा हम उक्त आपदा से बाहर निकलने को उद्दत हुए ।

परन्तु, इस आपदा का दूसरा अत्यन्त उद्विग्न करने वाला पक्ष भी है जिसने हमारे अनेक कलाकारों को आकस्मिक चपेट में ले लिया । इसे भुलाया नहीं जा सकता । इसने हमारी उन धरोहरों को नष्ट किया जिसने हमारी इस संजीवनी कला की महत्ता को देश-ही नहीं, पूरे विश्व-पटल पर सिद्ध कर दिया, कला का परचम लहराया, जिन्हें देखना-सुनना हमें तृप्त कर देता है । पर, आज वे शारीरिक रूप से हमारे बीच नहीं है- हमें यह स्वीकार नहीं हो रहा । हमारा मन, मस्तिष्क इसे स्वीकारने को तैयार नहीं । हम उन सभी के प्रति विनम्र नतमस्तक श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं । वे हमारे बीच भौतिक रूप में निश्चित ही नहीं हैं परन्तु उनकी कला के श्रवण-दर्शन से हम हमेशा आनन्दित होते रहेंगे, लाभान्वित होते रहेंगे, वे निरन्तर स्मरणीय रहेंगे ।

फिर, मनुष्य की जझारू प्रवृत्ति ने इस आपदा से धीरे-धीरे उन्मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त किया, धीरे-धीरे परिस्थितियाँ सामान्य होने लगीं । कार्यों में लम्बे गतिरोध के बाद सुचारू-सम्पादन की प्रक्रिया अपनायी जाने लगी है । इसी क्रम में 'स्तोम' 2021 का अंक अब तैयार हो चुका है, आतुर है....अपने पाठकों, अध्येताओं से मिलने को । सभी लेखकों, सम्पादकों और व्यवस्थापकों के प्रति हार्दिक आभार के साथ,

(लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या')

अनुक्रमणिका

		पृ०सं०
	सम्पादकीय	v-vi
१.	संस्कृत भाषा में विरचित गेय साहित्य 'गीता' : एक अवलोकन -प्रो. पंकजमाला शर्मा	०१
२.	पं. अप्पा तुलसी और उनके ग्रन्थ -लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'	०६
3.	**Aesthetics of Ghazal singing** **–Dr. Rahul Madhukar Ranade**	10
४.	डुमराँव घराना -डॉ. अरविन्द कुमार	१५
५.	पंजाब के लोक गीत -डॉ. भगवंत कौर	१८
६.	सामाजिक समरसता का प्रतीक : झरनी -डॉ. मंजर सुलैमान	२१
७.	भोजपुरी लोकगीतों में वाद्य यन्त्रों का अंकन -डॉ. ज्योति सिन्हा	२७
८.	मैथिली लोकगीतों में चित्रित सीता का स्वरूप -डॉ. ममता कुमारी (ठाकुर)	३३
९.	नाट्य-कला के विकास में लोकनाट्य का महत्त्व -डॉ. कुमार विनय मोहन सिंह	३६
१०.	ललित-निबंध साहित्य में लोकदेवता एवं संबंधित विधि-विधानों का चित्रण -डॉ. गजेन्द्र भारद्वाज	३८
११.	लोक संगीत में राग पहाड़ी का स्थान (पंजाब के सन्दर्भ में) -जगदीप सिंह	४४
१२.	लोक नाटक -शुभ्रा वर्मा	४८

१३.	सोनभद्र की धांगर जाति का करमा नृत्य एवं उनकी समस्याएँ -डॉ. श्वेता चौधरी	५१
१४.	पंजाब का लोक संगीत एवं लोक वाद्य -भुवन चंद्र शर्मा	६२
१५.	जम्मू प्रान्त के डुग्गर लोक संगीत-परम्परा के अन्तर्गत लोक वाद्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन -सगुना	६६
१६.	बुन्देलखण्ड के प्रचलित लोकपर्व में गाये जाने वाले गीत : विवेचनात्मक अध्ययन -नेहा श्रीवास्तव	७१
१७.	पूर्वी उत्तर प्रदेश के लुप्तप्राय लोकगीतों का सांगीतिक अध्ययन -प्रियंका सिंह	७४
18.	**Indian Folk Ballads** **-Ruma Chakraborty**	77
१९.	उत्तर भारतीय हिन्दुस्तानी संगीत के विकास में पंडित भातखण्डे जी का योगदान -डॉ. कुमारी ऋचा	८०
२०.	उत्तर भारतीय संगीत में उपशास्त्रीय गायन शैलियाँ -मणिकान्त कुमार	८२
२१.	ध्रुवपद : एक अध्ययन -प्रेरणा कुमारी	८५
२२.	सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना के नायक भिखारी ठाकुर एवं 'विदेसिया' नाटक का वर्त्तमान सांगीतिक परिदृश्य -अक्षय कुमार	८७
२३.	नुक्कड़ नाटक में संगीत का समायोजन -अविनाश तिवारी	९०
२३.	पुस्तक समीक्षा — पुस्तक - नादबिन्दूपनिषद् अनुवाद एवं हिन्दी व्याख्या -प्रो. पंकज माला शर्मा	९२

संस्कृत भाषा में विरचित गेय साहित्य 'गीता' : एक अवलोकन

—प्रो. पंकजमाला शर्मा*

आज सर्वत्र गीता की महिमा की चर्चा होती है। श्रीमद्भगवद्गीता ही गीता के नाम से प्रसिद्ध है। इसे गीता शास्त्र भी कहा है। यह एक ऐसा ग्रन्थ है जिसमें दर्शन, धर्म और नीति का समन्वय हुआ है। इसकी भाषा संस्कृत इतनी सुन्दर और सरल है कि थोड़ा अभ्यास करने से मनुष्य उसको सहज ही समझ सकता है, परन्तु इसका आशय इतना गंभीर है कि जीवन निरन्तर अभ्यास करते रहने पर भी उसका अन्त नहीं आता। गीता का पाठ और गान अभ्यासकर्ता के लिए 'गीता सुगीता कर्तव्या' के द्वारा निर्देशित किया गया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि संस्कृतवाङमय में गीता के विविध प्रकार उपलब्ध होते हैं। विविध प्रकार के गीता ग्रन्थों के अवलोकन से वह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि गीता से अभिप्राय क्या है? गीता के कितने प्रकार के साहित्य रूप उपलब्ध है? गीता का प्रतिपाद्य विषय क्या है? गीता के अभ्यास में संगीत का क्या महत्व है? आदि। इस पत्र में उपरोक्त बिन्दुओं पर विचार कर गीता के विभिन्न प्रकारों और उनके व्यवहार में संगीत की भूमिका पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

मुख्य शब्द : गीता, संस्कृत भाषा, उपनिषद्, महाभारत, पुराण, गीता साहित्य ।

गीता के नामकरण पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि 'गीता' यह स्त्रीलिंङ्ग रूप पद भगवद्गीता के आधार पर ही प्रचलित हुआ है। गायन का वाचक 'गीत' शब्द संस्कृत भाषा में नपुसंकलिङ्ग में प्रयुक्त है। 'गीतम्' यही प्रयोग सामान्यतः प्राप्त होता है। यहाँ 'गीता' शब्द के स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग का रहस्य है कि इस ग्रन्थ का पूर्णनाम 'भगवद्गीतोपनिषद्' है। गीता चूंकि सभी उपनिषदों का सार है और सार होने कारण भी उपनिषद् नाम से व्यवहृत किया गया है। उपनिषद् शब्द भी स्त्रीलिङ्ग है। उसका विशेषण होने से 'गीत' पद भी स्त्रीलिङ्ग बना और गानकर्ता भगवान का साथ जोड़ कर 'भगवद्गीतोपनिषद्' यह पूर्ण नाम हुआ। भगवद्गीता की पुस्तकों में अध्याय समाप्ति में ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है—'इति भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे.....। भगवान् श्रीकृष्ण ने बहुत सी उपनिषदों का सार ग्रहण किया था अतः 'भगवद्गीतासूपनिषत्सु' यह बहुवचन का प्रयोग प्रचलित हुआ। किन्तु व्यवहार में धीरे—धीरे ये विशेषण और विशेष्य लोप हो गये और भगवद्गीता या केवल 'गीता' यह संक्षिप्त शब्द रूप व्यवहार में रह गया। स्त्रीलिङ्ग गीता शब्द के प्रचलन का यही कारण था। और गान की दृष्टि से भगवान् के द्वारा गायी जाने के कारण भी 'गीता' है। गीता का विषय सार्वभौम है जो मनुष्यमात्र के लिए प्रवृत्ति—निवृत्ति मार्ग को आलोकित करता आ रहा है। इसके विषय का प्रतिपादन भगवान् के द्वारा दिया उपदेश कृष्ण—अर्जुन संवाद के रूप में पद्यरूप में संकलित है। फलतः आगे भी उपदेशपरक ग्रन्थों के लिए स्त्रीलिङ्ग 'गीता' शब्द की परम्परा चल पड़ी।[1] महाभारत और अन्यपुराणों में भी उपदेश प्रसंगों में 'गीता' शब्द का प्रयोग किया गया। जैसे पिंगलगीता, हारीतगीता, गणेशगीता, पाण्डवगीता, शिवगीता आदि। महाभारत में ही भगवद्गीता के अतिरिक्त अन्य कई गीता का उल्लेख है। यह बात स्पष्ट है कि ''गीता एक विशेष प्रकार का साहित्य है। (2) गीता उपदेशात्मक वचनों का संग्रह है। (3) पद्यबद्ध श्लोक के रूप में है; (4) तथा गीता गेय है, गान के लिए उपयुक्त है।

महाभारत में श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त 15 अन्य गीतायें भी उपलब्ध हैं। यहाँ सबका उल्लेख करना अपेक्षित है। सर्वप्रथम श्रीमद्भगवदगीता का उल्लेख करना अपेक्षित है जो सब गीताओं का आधार है।

भगवद्गीता— यह महाभारत के भीष्मपर्व के पच्चीसवें अध्याय से बयालिसवें अध्याय तक अठारह अध्यायों का

*अवकाशप्राप्त अध्यक्ष, संगीत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

महनीय भाग है। महभारत के सम्भावित विनाश की आशंका से विषादयुक्त अर्जुन के युद्धविरत होने की इच्छा को दूर कर उसे कार्यमार्ग में प्रवृत्त करने के उद्देश्य से भगवान् श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिया–वही इस गीता का प्रतिपाद्य विषय है। इसमें कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनों की एक श्रृंखला बनायी गयी है तथा कहा है कि ज्ञानमूलक, भक्तिप्रधान कर्म ही श्रेयस की ओर प्रवृत्त करने वाला है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, दृश्यजगत् और जीवों का कार्यकलाप इन पाँच मूल सत्यों का ज्ञान इस गीता में निहित है। 18 अध्यायों के अन्तर्गत 700 श्लोक हैं जो अनुष्टुप तथा त्रिष्टुप छन्दों में मुख्यतः निबद्ध है। भगवद्गीता दिव्य साहित्य है जो भगवान् श्रीकृष्ण के श्रीमुख से गान के रूप में उच्चरित हुआ। इसका नित्य अभ्यास करके मनुष्य जीवन के दुःख और चिन्ताओं से मुक्त हो सकता है। गीता के महात्म्य में यह कहा है कि जो गंगाजल पीता है उसे मुक्ति प्राप्त होती है तो उसके लिए क्या कहा जाये जो भगवद्गीता का अमृतपान करता है? सब में उपनिषदों का सार, एक शास्त्र, सर्वजन सुलभ और सर्वजनहिताय है इसीलिए 'गीता सुगीता कर्तव्या' का उद्घोष सर्वकालिक है। यही भगवद्गीता अन्य गीताओं की उपजीव्य है। वस्तुतः महाभारत में श्रीमद्भगवद्गीता के इन विविध चिन्तन पक्षों को पल्लवित करने का प्रयास है और इसी के परिणामस्वरूप गीता साहित्य विकसित हुआ। विद्वानों ने महाभारत में संकलित अन्य गीताओं को अनुगीता की संज्ञा भी प्रदान की। ऐसा कहना संभवतः इसलिए है कि अन्य गीताओं में भगवद्गीता में प्रतिपादित विविध पक्षों की आंशिक रूप से अलग–अलग व्याख्यायें हैं। अन्य गीता साहित्य का उल्लेख करना यहाँ अभिप्रेत है। महाभारत में उल्लिखित श्रीमद्भगवद्गीता के अतिरिक्त 15 गीता इस प्रकार हैं :

1. **उतथ्यगीता**– यह गीता शान्ति पर्व के राजधर्मानुपूर्व में दो अध्यायों में मिलती है। इसमें राजधर्म वर्णन के अन्तर्गत राजा के कर्तव्यों पर जोर देते हुए भीष्म युधिष्ठिर को अंगिरा ऋषि के पुत्र उतथ्य द्वारा मन्धाता को दिये गये उपदेश को बताया गया है। उतथ्य ऋषि के नाम से इसे उतथ्यगीता कहा जाता है। राजा के धर्म आचरण से राज्य की उन्नति होती है।[2]
2. **वामदेवगीता**– वामदेव गीता महाभारत के शान्तिपर्व के अध्याय 92 से 94 तक है। इसमें भीष्म राजा वसुमना को महर्षि वामदेव द्वारा दिये गये राजधर्म के उपदेश को युधिष्ठिर को बताते हैं। वामदेव ने यह उपदेश दिया था कि धर्म में स्थित राजा पृथिवी को जीत लेते हैं। राजा को जितेन्द्रिय होना, मितभाषी होना, क्रोध को वश में करना, प्रजा की समृद्धि का ध्यान रखने वाला होना चाहिये। अपने राज्य की रक्षा का स्थान, युद्ध, धर्म के अनुसार शासन, मन्त्र, चिन्ता (राजनीतिक विचार विमर्श) तथा प्रजा को यथासंभव सुख देना, इन पाँचों से राज्यवृद्धि होती है।[3]
3. **ऋषभगीता**– यह शान्तिपर्व के अध्याय 125–128 में प्राप्त होती है। इनमें भी अध्याय 127–128 में वास्तविक उपदेश है जहाँ महर्षि ऋषभ हैहयवंशी राजा, राजा सुमित्र को ज्ञान–दान देते हैं। लोभ से बचने और अनासक्त भाव से सम्पत्ति की रक्षा यज्ञ के लिये, प्रजा के हित के लिये तथा ईश्वर के प्रति समर्पण के लिए निस्वार्थ सेवा का उपदेश है।
4. **षड्जगीता**– यह शान्तिपर्व के अध्याय 167 में प्राप्त होती है। इसका नाम षड्जगीता इसलिये है कि इसमें छः पात्रों 5 पाण्डवों तथा छठा विदुर के सम्बन्ध में विचार है कि धर्म, अर्थ तथा काम में कौन श्रेष्ठ, कौन मध्यम तथा कौन लघु है।[4] युधिष्ठिर के इस प्रश्न का प्रत्येक पात्र अपने अपने ढंग से उत्तर देते हैं। अन्त में युधिष्ठिर धर्म, अर्थ तथा काम इस त्रिवर्ग में से किसी एक की प्रधानता न मान कर चतुर्थ पदार्थ मोक्ष को प्रधान मानते हैं। जिसके मन में धर्म, अर्थ काम में से किसी एक के प्रति आसक्ति है वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता।
5. **शम्पाकगीता**– शान्ति पर्व के अध्याय 176 में

शम्पाकगीता है। इसमें शम्पाक ब्राह्मण द्वारा त्याग भाव के महत्त्व को बताया गया है। क्योंकि सुख की प्राप्ति त्याग भावना से ही हो सकती है।[5]

6. **मंकिगीता**– शान्तिपर्व का अध्याय 277 मंकिगीता के नाम से प्रसिद्ध है। इस गीता का प्रतिपाद्य विषय यह है कि धन की तृष्णा से दुःख तथा उसकी इच्छा के परित्याग से सुख की प्राप्ति होती है। इसमें युधिष्ठिर द्वारा प्रश्न किये जाने पर भीष्मपितामह युधिष्ठिर को एक पुराना इतिहास सुनाते हैं जिसमें मंकि मुनि का भोगों से विरक्त होने पर अनुभव व उपदेश संकलित है। मंकि ऋषि के अनुसार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और ममतायें मनुष्य के सात शत्रु हैं। इसमें भी काम सबसे प्रबल है। मैं इनका नाश करके ब्रह्मज्ञान के द्वारा मुक्त और सुखी होऊंगा। इस तरह मंकि ने भोगों का त्याग कर परमानन्द रूप ब्रह्म को प्राप्त किया।[6]

7. **बोध्यगीता**– महाभारत के शान्तिपर्व 178वें अध्याय में बोध्यगीता प्राप्त होती है। इसमें बोध्य ऋषि ने अपने ज्ञान को समाज में ही घटित घटनाओं के आधार पर प्राप्त किया; का संवेदनशीलता का उत्कृष्ट उदाहरण है। राजा नहुष के पुत्र ययाति ने शान्ति प्राप्त करने के लिए बोध्यऋषि से उपदेश देने की प्रार्थना की थी। इस प्रार्थना पर बोध्यऋषि ने कहा कि वे किसी को कोई उपेदश नहीं देते अपितु वे दूसरों से प्राप्त उपदेश के अनुसार आचरण करते हैं। वे बताते है कि उन्होंने छह गुरूओं से ज्ञान प्राप्त किया। वे छह इस प्रकार है–पिंगला, कुरर पक्षी, सर्प, सारंगपक्षी, इषुकार (बाण बनाने वाला) तथा कुमारी। पिंगला वेश्या से आशा का त्याग, कुरर पक्षी से भोगों का त्याग, सांप से घर आदि निर्माण का मोह त्याग, चातक पक्षी से भिक्षा वृति तथा किसी प्राणी से द्रोह न करने की वृति, इषुकार से एकाग्रता तथा कुमारी से दान भाव को सीखा है। इनके वृतान्त का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस प्रसंग में जहाँ उपदेश है वही बोध्यऋषि की विनम्रता और संवेदनशील अनुभव द्वारा ज्ञानप्राप्ति का सन्देश भी मिलता है। धन्य है ऋषि और धन्य है ऋषि चिन्तन।

8. **विचक्ष्णुगीता**– महाभारत का अध्याय 265 विचक्ष्णु गीता है। यह गीता यज्ञ में पशुहिंसा की निन्दा करती है। इसमें भीष्म ने अहिंसा धर्म की प्रशंसा करते हुए यज्ञशाला में कटे पशु को तडपते देख कर राजा विचक्ष्णु के इन विचारों को कहा है कि अव्यवस्थित मर्यादा वाले मूर्ख नास्तिक, जिन्हें आत्मा के विषय में संदेह है, यज्ञ में हिंसा का समर्थन करते हैं। अहिंसा सभी धर्मों से बढ़ कर है।[8]

9. **हारीत गीता**– शान्तिपर्व अध्याय 278 हारीत गीता है। इस गीता में सन्यासी के कर्तव्यों के सम्बन्ध में उपदेश प्राप्त होता है। सन्यासी को समस्त इच्छा का परित्याग करना, दूसरे की त्रुटियों पर ध्यान न देना, जीव को दुःख नहीं देना, किसी के प्रति घृणा या द्वेष न रखना, प्रशंसा, निंदा, अपशब्द या अपमान से प्रभावित न होना, कहीं निमन्त्रण पर न जाना, कहीं पक्व और अपरिपक्व भोजन न ग्रहण कर समस्त सांसारिक सीमाओं से मुक्त हो ज्ञान के लोक में विचरण करने का उपदेश है। प्राचीन काल में हारीत मुनि द्वारा दिये गये इस उपदेश को भीष्म युधिष्ठिर के प्रति सुनाते हैं।

10. **वृत्रगीता**– शान्तिपर्व अध्याय 279–80 वृत्र गीता में भीष्म ने वृत्र तथा शुक के संवाद द्वारा ब्रह्मप्राप्ति के विषय में उपदेश किया है। शुक्राचार्य के द्वारा यह पूछने पर कि देवताओं से पराजित होने पर वृत्र दुःखी क्यों नहीं हुआ, तो वृत्रासुर यह उत्तर देता है कि इस संसार में सभी प्राणी काल से प्रेरित है और अनेक योनियों में घूमते हुए कार्यफल भोगते हैं। मैंने तपस्या से जो ऐश्वर्य प्राप्त किया था, वह अपने ही कर्मों से नष्ट हो गया। अतः मैं धैर्यधारण कर शोक नहीं करता। मैंने तो इन्द्र के साथ युद्ध करते समय स्वयं भगवान नारायण के दर्शन किये हैं। इन्द्र तथा वृत्र नामक असुर का

युद्ध वेदों में भी वर्णित है। इन्द्र ने वृत्र को मार कर जलों को प्रवाहित किया या ऐसा सन्दर्भ है। इस गीता में वृत्र तथा शुक्र को सनत्कुमारों द्वारा परम तत्व के बारे में ज्ञान देने का उल्लेख है। यहाँ विष्णु के विराट रूप का संकेत किया गया है जो परम तत्त्व हैं। जो साधक सदा शुद्ध मन से उनका ध्यान करता है, वह उन्हें अवश्य प्राप्त कर उसी सनातन ब्रह्मपद में प्रतिष्ठित हो जाता है।[9]

11. **पराशरगीता**– शान्तिपर्व अध्याय 290–98 तक अध्यायों में पराशरगीता है। इस गीता में भीष्म ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि कल्याण प्राप्त का साधन क्या है। इस सम्बंध में वे राजा जनक को दिये गये पराशर मुनि के उपदेश को सुनाते हैं। पराशर ऋषि बताते हैं कि धर्म से बढ़ कर श्रेय का और कोई साधन नहीं है। अतः अपने वर्ण तथा आश्रम के अनुरूप धर्माचरण तथा कर्तव्यपालन करना चाहिए। दया, क्षमा, धृति, तेज, सन्तोष, सत्यवादिता, लज्जा, अहिंसा, दुर्व्यसनों से बचना तथा दक्षता ये गुण सुख के साधन हैं। पराशर के अनुसार जीव को कर्मफल भोगना ही पड़ता है। अतः बुद्धिमान मनुष्य पापकर्म से वैसे ही दूर रहे जैसे पवित्र व्यक्ति चाण्डाल से। विषयासक्त मनुष्य का पतन होता है। आत्मकल्याण के लिए तपोबल श्रेष्ठ है तथा मनुष्य को दृढ़तापूर्वक स्वधर्म का पालन करना चाहिए। इसी सन्दर्भ में नाना प्रकार के धर्म तथा कर्तव्यों का उल्लेख पराशर गीता में उपलब्ध है।

12. **हंसगीता**– शान्तिपर्व के अध्याय 299 जो हंसगीता के नाम से संकलित है, उसमें भीष्म ने साध्यदेवों को हंस रूप में उपस्थित कर प्रजापति द्वारा दिये उपदेशों का वर्णन किया है। युधिष्ठिर के द्वारा पूछे जाने पर कि विद्वान सत्य, इन्द्रिय निग्रह, क्षमा और प्रजा की प्रशंसा करते है इस विषय में पितामह भीष्म का क्या मत है? इस प्रश्न के उत्तर में ही हंसगीता कही गयी है। हंसगीता के अनुसार परम सत्य (परमतत्त्व) को जाने के लिए सत्य आदि गुणों का विकास आवश्यक है। जो व्यक्ति इन गुणों का सेवन करता है, सदा स्वाध्याय में लगा रहता है, दूसरों की वस्तु की इच्छा नहीं करता, एकान्तप्रिय है, वह उर्ध्वगति को प्राप्त होता है। इस गीता में यह भी संकेत है कि इस संसार में मनुष्ययोनि से बढ़ कर कोई उत्तम योनि नहीं है।[10]

13. **ब्रह्मगीता**– यह गीता अनुशासन पर्व के पैंतीसवें अध्याय में है। यहाँ भीष्म ने ब्राह्मणों की महत्ता बताते हुए ब्रह्मा जी द्वारा इनकी महत्ता के विषय में कहे गये उपदेश का वर्णन किया है।[11]

14. **अनुगीता**– यह गीता महाभारत में उपलब्ध आकार में सबसे बड़ी गीता है। श्रीमद्भगवद्गीता में 18 अध्याय तथा 700 श्लोक हैं। किन्तु अनुगीता आश्वमेधिक पर्व में 36 अध्यायों में है जो आकार में उससे दुगुनी है।12 इसमें भी पुनः एक और गीता (अध्याय 20 से 34 में) ब्राह्मणगीता नाम से प्राप्त होती है। इसके विषय में अलग से कहेंगे।

अनुगीता का प्रारम्भ श्रीकृष्ण से अर्जुन द्वारा उस ज्ञान का उपदेश पुनः देने की प्रार्थना से होता है जो उन्होंने युद्धभूमि में उसे दिया था। अर्जुन उस ज्ञान उपदेश को भूल गया है अतः उसे पुनः सुनने की इच्छा व्यक्त करता है। इस पर कृष्ण कहते है कि मैंने उस समय अत्यन्त गोपनीय ज्ञान सुनाया था, जिसके द्वारा धर्म के वास्तविक स्वरूप और शाश्वत लोकों का परिचय दिया था। तुमने उसे अबुद्धि के कारण भुलाकर ग्रहण नहीं किया, यह मुझे अप्रिय लगा। अब उसी ज्ञान को यथावत् बताने में मेरी स्मृति नहीं हो सकती। उस समय योगयुक्त चित्त से मैंने उपदेश दिया था, वह अब इतिहास (आख्यान) के माध्यम से तुम्हें सुना रहा हूँ। तब कृष्ण उस परम गोप्य ज्ञान के विविध पक्षों का कृष्ण–काश्यप संवाद, ब्राह्मण–ब्राह्मणी तथा गुरू–शिष्य संवाद के द्वारा विस्तार से विवेचन करते हैं।

15. **ब्राह्मण गीता**– इसमें कर्मयज्ञ से विरत ज्ञानयज्ञ

को महत्त्व देने वाले ब्राह्मण का अपनी पत्नी को ज्ञानयज्ञ के विषय में उपदेश है जो अध्याय 20 से 34 तक अनुगीता का ही अंश है। इसे ब्राह्मण–ब्राह्मणी संवाद के द्वारा वर्णित किया गया है। ब्राह्मण की पत्नी अपने पति की भत्सर्ना करती है। कि वह कर्म छोड़कर निठल्ले बने सन्यस्त जीवन को जी रहे हैं। इस पर ब्राह्मण बताता है कि जिन्हें ज्ञान नहीं हुआ, वे कर्म के द्वारा मोह में फंसे रहते हैं। मैंने कर्म मार्ग का विनाश कर शाश्वत आत्मा (परमात्मा) का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। मैं भी कर्म करता हूँ पर वह ज्ञान यज्ञ है, जहाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियां, मन और बुद्धि इन सात अग्नि जिह्वाओं वाले पाँचों प्राणों में अवस्थित वैश्वानर में मैं सात समिधायें–शब्दादि तथा मनन और बोद्धत्व (विचार–तत्त्व) का हवन कर रहा हूं। मेरी पाँच ज्ञानेन्द्रियां तथा पाँच कर्मेन्द्रिया इस यज्ञ में होती है। इस प्रकार मन तथा वाक् के सम्बन्ध में तथा अन्य प्रश्न पूछती है जिसका ब्राह्मण उत्तर देता है। और अन्त में ब्राह्मण पत्नी के प्रति अपने ज्ञाननिष्ठ स्वरूप का परिचय बताता है। श्रीकृष्ण ने इस ब्राह्मण–ब्राह्मणी वाले वृतान्त को भी अन्यापदेशी रूपक बताते हुए कहा है–'हे धनंजय, ब्राह्मण मेरा मन है और ब्राह्मणी मेरी बुद्धि और इस कथा का क्षेत्रज्ञ मैं स्वयं ही हूँ ऐसा तुम समझो।13

इस प्रकार महाभारत में संकलित भगवद्गीता तथा अन्य 15 गीता के विषय में हमने संकेत किया है। इसके अतिरिक्त पुराणों में भी शिवगीता, देवीगीता आदि अनेक गीतायें उपलब्ध होती है। ये सब संस्कृत भाषा में श्लोकबद्ध गेय रचनायें हैं। गीता साहित्य के अवलोकन के यह बात स्पष्ट होती है कि गीता उपदेशात्मक साहित्य है, गीता छन्दोबद्ध पद्यात्मक रूप में रचित है तथा गायन के लिए उपयुक्त है। किसी उपदेश को सामान्य भाषा में कहने की अपेक्षा पद्यबद्ध तथा श्लोक रूप में कहना अधिक प्रभावशाली होता है और यदि इसे गान का साथ मिल जाये तो उन सिद्धान्तों के अभ्यास और प्रचार और भी प्रभावशाली हो जाता है। विभिन्न गीता के माध्यम से विभिन्न प्रकार के जो उपदेश कहे गये है वे वस्तुतः मानवमूल्य एवं नैतिक मूल्य ही है जो भारतीय संस्कृति के आधार स्तम्भ है। इन मूल्यों के कारण ही भारत विश्वगुरू तथा विश्ववन्दय कहलाता है। आज आवश्यकता है कि इस गीता साहित्य का अध्ययन कर गेय रूप में व्यवहार में लाया जाये। इससे संगीत में शोध के नवीन क्षेत्र उद्घाटित होंगे। स्वर रचनाबद्ध कर क्रियात्मक रूप में गान करने से रस संचार तो होगा ही, साथ–साथ उपदेशात्मक गीता साहित्य से व्यक्ति, समाज तथा विश्व का कल्याण होगा।

संदर्भ

1. संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, तृतीय खण्ड, पृ. 475
2. यदा राजा शास्ति नरानशिष्टांस्तदा राज्यं वर्धते भूमिपस्य।
   महाभारत शान्तिपर्व 91.28
3. रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम्।
   मन्त्रचिन्ता सुखं काले पञ्चभिवर्धते मही।
   महाभारत शान्तिपर्व 94.24
4. धर्मे चार्थे च कामे च लोकवृत्तिः समाहिता।
   तेषां गरीयान् कतमयो मध्यमः को लघुश्च कः।।
   शान्ति पर्व 127.2
5. नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विन्दते परम्।
   नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्तवा सर्वं सुखी भव।
   शान्तिपर्व 76.22
6. एतां बुद्धिं समास्थाय मङ्कि निर्वेदमागतः।
   सर्वान् कामान् परित्यज्य प्राप्य ब्रह्म महासुखम्।।
   शान्तिपर्व 177.53
7. वही, 178.8–13
8. अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता।
   शान्तिपर्व 265.6
9. वही 279.65
10. न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हिकिञ्चित। शान्तिपर्व 299.20
11. महाभारत, अनुशासन पर्व 35.1–23
12. आश्वमेधिकपर्व, अध्याय 16–51
13. मनो मे ब्राह्मां विद्धि बुद्धि में विद्धि ब्राह्मणीम।
    क्षेत्रज्ञ इति यश्चोक्तः सोऽहमेवधनञ्जय।।
    महाभारत, आश्वमेधिक पर्व, 34.12

पं० अप्पा तुलसी और उनके ग्रन्थ

-लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'*

आधुनिक काल के संगीत के अध्ययन के लिए पूर्व पृष्ठावलोकन करना आवश्यक है । वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण-ग्रन्थों आदि में संगीत का उल्लेख मिलता है । रामायण, महाभारत, गीता आदि में भी संगीत का समावेश है । दूसरी ओर, इन्द्र-सभा में अप्सराओं को संगीत-नृत्य, उनके द्वारा तपस्वियों की तपस्या भंग करना, मेनका द्वारा विश्वामित्र को सम्मोहित करना, अर्जुन द्वारा देव-नर्तकी उर्वशी के प्रणय-निवेदन के ठुकराये जाने पर शाप देना आदि घटनाओं ने इस कला को कामोत्तेजना का माध्यम मान लिया । प्रतिष्ठित समाज में संगीत की अवहेलना होने लगी । दक्षिण भारतीय मन्दिरों में गायन-वादन-नृत्य के लिए नियुक्त दासियों के शृंगारिक रूप से आकृष्ट होकर कुछ लोगों की हेय दृष्टि उन पर पड़ने लगी । उनके प्रति लोगों की भावनाएँ बदल गईं और इन्होंने संगीत के पवित्र और उज्ज्वल स्वरूप को विकृत कर दिया । सभ्य समाज संगीत से घृणा करने लगा । इन परिस्थितियों के कारण समाज में संकीर्णता का समावेश हो गया जिससे जनता संगीत को आम जनता से छुपा कर रखने में अपनी प्रतिष्ठा समझने लगी और संगीत का क्षेत्र संकुचित हो गया । 7वीं शताबदी में संगीत लुप्त प्राय हो गया । पुनः मुगलकाल में संगीत की लहर दौड़ गई । अन्तःपुर के अलावा राज-दरबार में संगीतज्ञों की नियुक्तियाँ होने लगीं । अकबर के दरबार में तानसेन को नव रत्नों में से एक का सम्मान प्राप्त था । इसके बाद अंग्रेजों का शासन-काल आया और पुनः भारतीय संगीत अपनी स्वच्छन्दता को तड़पने लगा । जिन रियासतों में संगीत को प्रतिष्ठा प्राप्त थी, वे भी इस व्यवस्था के शिकार हो गए और संगीत ऐसे व्यावसायिओं के हाथ में पहुँच गया जिसने संगीत को समाज में निम्न कोटि का दर्जा दिया । तभी देव-स्वरूप दो विभूतियों ने जन्म लिया जिन्होंने इस अवनति को दूर करने हेतु कठोरतम परिश्रम किया- विष्णुद्वय पं. विष्णु दिगम्बर पलुष्कर और पं. विष्णु नारायण भातखण्डे । इन्हीं पं. विष्णु नारायण भातखण्डे के सहयोगी मित्र श्री अप्पा तुलसी थे जिनका पूरा नाम अप्पा तुलसी काशीनाथ शास्त्री था । अप्पा तुलसी ने भी आन्दोलन से प्रेरित होकर अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया ।

मुख्य शब्द : संगीत, शास्त्र, परम्परा, ग्रन्थ, राग, प्रकाशन

महाराष्ट्र निवासी पं. अप्पा तुलसी का जन्म 1855 माना गया है तथा इनकी मृत्यु 1920 में हुई । उन्होंने अपने पिता से संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी । अप्पा तुलसी के पिता का नाम तुलसी था । संस्कृत के विद्वान होने के कारण संगीत के संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन किया था परन्तु संगीत की शास्त्रीयता को आत्मसात नहीं कर पाए थे । पं. भातखण्डे से परिचय एवं मित्रता के बाद संगीत के उन संस्कृत-ग्रन्थों से उनका पुनर्परिचय हुआ और बहुत निष्ठापूर्वक गम्भीर अध्ययन के बाद लक्ष्य संगीत के लक्षणाधारित ग्रन्थों की रचना अप्पा तुलसी ने की । उन्होंने संगीत के सम्मान हेतु हर सम्भव प्रयत्न किया । प्राचीन और नवीन का सामंजस्य स्थापित करने का दुरुह कार्य पं. भातखण्डे ने किया । हैदराबाद निजाम में अप्पा तुलसी को गायक के रूप में आजीविका प्राप्त थी । वे तत्कालीन प्रचलित गुरुमुखी संगीत के गायक थे । पं. भातखण्डे से मिलन के बाद तत्कालीन प्रचलित गुरुमुखी संगीत और शास्त्र-सम्मत मान्यताओं में तादात्म्य बनाने का प्रयत्न किया जाने लगा । वे पं. भातखण्डे रचित 'श्रीमल्लक्ष्यसंगीत' से बहुत प्रभावित थे । फलस्वरूप उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की और पं. भारतखण्डे ने ही अप्पा तुलसी के द्वारा लिखित ग्रन्थों को प्रकाशित भी कराया । पं. भातखण्डे ने अनेकानेक अन्य संस्कृत ग्रन्थों का भी प्रकाशन करवाया था । अप्पा तुलसी के ग्रन्थ हैं-

1.	राग कल्पद्रुमांकुर (संस्कृत)	-	1911
2.	रागचन्द्रिका (संस्कृत)	-	1911
3.	राग चन्द्रिकासार (हिन्दी)	-	1912
4.	अभिनवतालमंजरी (संस्कृत)	-	1914
5.	संगीत सुधाकर	-	1917

*संकायाध्यक्ष, ललित कला संकाय, ल.ना.मि. विश्वविद्यायल, दरभंगा

रागकल्पद्रुमांकुर : यह रागाधारित संस्कृत ग्रन्थ सर्वप्रथम 1911 में प्रकाशित है जिसमें रागों के स्वरूप को दर्शाया गया है । जैसा पूर्व में ही उल्लिखित है कि अप्पा तुलसी के समय प्रचलित गुरुमुखी संगीत में राग के व्यावहारिक स्वरूप के अनेक मत थे । 11 पृष्ठों के इस ग्रन्थ का प्रकाशन निर्णय सागर, मुम्बई से हुआ । यह गंथ दो भोगों में विभक्त है- प्रथम खण्ड में दिन के राग तो द्वितीय खण्ड में रात्रिर्गेय राग और उनके लक्षण दिए गए हैं । दिन के रागों में- भैरव, रामकली, गुणकली, यौगिनी, विभास, बेलावली, यमनी बेलावली, अल्हैया बेलावली, देशीकार, लच्छासाग, भैरवी, सिन्धु भैरवी, तोड़ी, गुर्जरी तोड़ी, आसावरी, जौनपुरी, सुहा, सुग्राई, वृन्दावनी सारंग, मध्यमादि सारंग, गौड़सारंग, धनाश्री, भीमपलासी, मुल्तानी, पीलू, धानी, नीलाम्बरी मारवा, मालवश्री, पूरिया धनाश्री, श्री, पूर्वी और गौड़ी ।[1]

द्वितीय खण्ड में रात्रिर्गेय राग ये हैं- यमन कल्याण, शुद्ध कल्याण, भूप कल्याण, हमीर, श्यामकल्याण, कामोद, छायानट, केदार, पूरिया, नट, खमाज, खम्बावती, झिंझोटी, पहाड़ी, सोरठ, जैजैवन्ती, देश, तिलक कामोद, मल्हार, सुरमल्हार, मियां मल्हार, मेघ मल्हार, काफी, कर्णाट, अड़ाना, सहाना, वागेश्वरी, बहार, शंकरा, विहंग, मालकौंस, हिंडोल, वसन्त, परज, सोहनी, कलिंग, ललित । राग के सन्दर्भ में इस ग्रन्थ के श्लोकों का अन्य ग्रन्थकारों ने भी प्रयोग किया है ।

रागचन्द्रिका : यद्यपि यह ग्रन्थ अप्पा तुलसी द्वारा रचित है परन्तु इस ग्रन्थ में रचयिता के स्थान पर कहीं भी आप्पा तुलसी का नाम अंकित नहीं है । वहाँ विष्णु शर्मा (पं. भातखण्डे का नाम) द्रष्टव्य है, यथा- 'अयम् ग्रन्थ : मुम्बय्यां पंडित विष्णुशर्मणा निर्णयसागर मंत्रालय कोलाभाटबिश्यां 23 नं. बा.रा. घाणेकर द्वारा मुद्राक्षरैरंकयित्वा प्राकश्यं नीतः ।'[2] प्रथम पृ. पर है तथा द्वितीय पृ. पर अंग्रेजी में मुद्रक एवं प्रकाशक को दर्शाया गया है । इस ग्रन्थ के रचयिता से सम्बन्धित तथ्य 'भातखण्डे स्मृति ग्रन्थ' में उपलब्ध है- ''आपने 'लक्ष्यसंगीत' पर आधारित कतिपय ग्रन्थ जैसे 'रागचन्द्रिका', 'चन्द्रिकासार' की रचना में अप्पा तुलसी को प्रेरित किया ।'[3] यह ग्रन्थ 1911 में ही सर्वप्रथम प्रकाशित है । इसमें तत्कालीन लोक प्रचलित रागों को उनके लक्षणों के साथ दर्शाया गया है । इस लघु ग्रन्थ में कुल 12 पृ. हैं । इसमें 143 श्लोक संस्कृत में हैं ।

ग्रन्थ में क्रमशः प्रथम श्लोक मंगलाचरण, 19 श्लोक उद्देश, 66 श्लोक दिन के राग-लक्षण तथा 55 श्लोक रात्रिर्गेय राग लक्षणों के हैं । दिन के राग हैं- भैरव, बंगाल भैरव, आनन्द भैरव, शिव भैरव, प्रभाती, रामकली, गुणकली, अहिरी, योगिनी, विभास, सौराष्ट्र, बेलावली, शुक्ला वेलावली, यमनी वेलावली, नट वेलावली, देवगिरि, संपदा, देशकार, लच्छासाग, कुकुभ, मांड, भैरवी, सिंधु भैरवी, भूपाल, सामंत, तोड़ी, गुर्जरी, लाचारी, मुखारी आसावरी, जौनपुरी, देशी, देवगांधार, पटमंजरी, धनाश्री, भीमपलाशी, मुल्तानी, पीलू, बरखा, मारू, माली गौरो, वहाटी, जैत्र, मालवश्री, पूर्वी, जैतश्री, परियाधनाश्री, कंकणी, रेवा, साजगिरी, गौरी, श्री, त्रिवेणी, टंकिका, मालवी, दीपक । रात्र के रागों में- यमन, शुद्ध कल्याण, भूपाली, हमीर, श्याम, कामोद, हेम, चन्द्रकांत, नट, छायानट, केदार, मलूहा, चांदनी, विहंग, शंकर, पूरिया, समाज, खंबावती, रागेश्वरी, दुर्गा, तिलंग, झिंझूटी, पहाड़ी, सोरटी, देश, जैजैवन्ती, कामोद, तिलककामोद, मल्लारी, मेघमल्लार, सुरमल्लार, मियामल्लार, गौडमल्लार, काफी, सिंधुरा, धानी, नीलम्बरी, गारा, कर्णाट, नायकी, हुसेनी, कौशी, अड्डाणा, सहाना, वाणीश्वरी, बहार, मालकौश, हिंडोल, वसन्त, भट्टिहार, भंखार, पंचम, परज, सोहनी, कलिंग, ललितपंचम, ललित का संक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

रागचन्द्रिकासार : इस ग्रन्थ 'रागचन्द्रिकासार' का प्रकाशन 1912 में हुई और इसकी भाषा हिन्दी है । अप्पा तुलसी रचित ग्रन्थों में मात्र 'रागचन्द्रिकासार' ही हिन्दी भाषा में है । इसे आर्य भूषण मंत्रालय द्वारा पं. भातखण्डे ने प्रकाशित किया । इस पुस्तक में भी 'रागचन्द्रिका' के अनुसार लेखक का नाम अंकित नहीं है । 'संगीत ग्रन्थ शास्त्र' में भगवत शरण शर्मा ने भी उल्लेख किया है कि यह 16 पृष्ठों का ग्रन्थ है जिसे पं. विष्णु शर्मा ने लिखा है जिसका द्वितीय संस्करण 1919 में प्रकाशित हुआ ।[4] रागचन्द्रिकासार' के प्रथम पृ. पर मुद्रक और प्रकाशक हैं, लेखक नहीं । यह

ग्रन्थ 'रागचन्द्रिका' का हिन्दी अनुवाद है । ऐसा 'उत्तर भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास' नामक पुस्तक में अंकित है ।[5] इसमें जिन रागों का वर्णन है, वे हैं- भैरव, बंगाल, आनन्दभैरव, शिवभैरव, प्रभात, रामकली, गुणकली अहीरी, जोगिया, सौराष्ट्र, विभास विलावल, शुक्ल विलावल, यमन विलावल, नट विलावल, देवगिरि, अल्हैया, सर्पर्दा, देसीकार, लच्छासाग, ककुभ, माड, भैरवी, सिंघभैरवी, भूपाल, सामंत, तोड़ी, गूजरी, लाचारी, मुखारी, आसावरी, जौवपूरी, देसी देवगांधार, खट, देसाख, सूहा, सुघराई, मध्यमादि, सारंग, वृदावनी, बडहंस, गौडसारंग, पटमंजरी, हंसकिकणी, भीमवलासी, धनासिरी, मुल्तानी, पीलू, बरवा, मारवा, मालीगौरा, बराटी, जैत, मालसिरी, पूर्वी, त्रिवेनी, टंकी, साजगिरी, मालवी, रेवा, जैतसिरी, पूरियाधनासिरी, श्रीराग, गौरी, दीपक, ईमनकल्याण, सुधकल्याण, भूपाली, हमीर, श्याम, कामोद, हेम, चन्द्रकान्त, नट, छायानट, केदारा, मलुहा, चांदनी, रात की पूरिया, खमाज, खंबावती, रागेसरी, दुर्गा, तिलंग, झिंजूटी, पहाड़ी, सोरट, देस, जैजैवन्ती, तिलककामोद, मल्लार, मेघमलार, सुरमलार, मियाकी मलार, काफी सिंदुरा, धानी, नीलांबरी, गारा, कानड़ा, नायकी, हुसेनी, कौंसी, अड़ाना, सहाना, वागेसरी, बहार, विहाग, संकरा, मालकंस, हिडोल, बसंत, भटियार, भंखार, पंचम, परज, सोहनी, कलिंगड़ा, ललतपंचम और ललत ।[6]

इस ग्रन्थ के दोहों का प्रयोग अनेक ग्रन्थकारों ने किया है, यथा- पं. भातखण्डे ने 'क्रमिक' पुस्तक मालिका' एवं 'भातखण्डे संगीत शास्त्र' और पं. रामाश्रय झा ने 'अभिनव गीतांजली' में (कहीं-कहीं) । इस ग्रन्थ को 'रागचन्द्रिका' नामक संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद कहा है परन्तु इसमें ('रागचन्द्रिकासार' में) रागों की संख्या कम है । 'राग चन्द्रिका' में 122 तो इसमें 120 राग ही है । दोनों ग्रन्थों में रागों के क्रम में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है ।

अभिनवताल मंजरी : अप्पा तुलसी काशानाथ शास्त्री प्रणीत 'अभिनव ताल मंजरी' ताल पक्ष का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । उन्होंने इस ग्रन्थ की सरल संस्कृत भाषा में रचना की । निर्णय सागर प्रेस द्वारा यह 1914 में प्रकाशित हुआ । परन्तु यह आज अनुपलब्ध है । इस ग्रंथ में कुल 130 श्लोक हैं । इस ग्रन्थ में मंगलाचरण के बाद 25 तालों का लक्षण सहित वर्णन किया गया है, वे ताल हैं- एकताल, दादरा, त्रिपुटा, रूपक, धुमाली, अंकताल, झम्पाताल, शूलताल, रूद्रताल, चौताल, विश्वताल, धमार, झूमरा, दीपचंदी, आड़ाचौताल, सवारी, त्रिताल, विष्णुताल, पुराणताल, शेषताल, विजयताल, गणेशताल, श्रुतिताल, मागधताल, ब्रह्मताल । इन तालों के वर्णन के बाद ताल के दस प्राणों का वर्णन किया है- काल, मार्ग, क्रिया, अंग, ग्रह, जाति, कला, लय, यति, प्रस्तार । यह ग्रन्थ शारंगदेव रचित 'संगीत रत्नाकर' से प्रभावित दिखाई देता है- कहीं-कहीं छन्दों को ज्यों-का-ज्यों दिया गया है । इस ग्रंथ में लोक प्रचलित एवं शास्त्र-सम्मत के बीच तारतम्य बैठाने का उपयोगी प्रयत्न किया गया है । यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों ने खाली (निःशब्द क्रिया) का स्थान नहीं दर्शाया है । इस विवाद की स्थिति में अप्पा तुलसी ने 'शब्दहीनो' अथवा 'निःशब्दो' इत्यादि संज्ञा के साथ नयी और उपयोगी परम्परा को आगे बढ़ाया ।[7]

संगीत सुधाकर : 'संगीत सुधाकर' अप्पा तुलसी काशीनाथ शास्त्री रचित अन्तिम ग्रन्थ है जिसका प्रकाशन 1917 में हुआ । इस ग्रन्थ में रागों का परिचय दिया गया है । अप्पा तुलसी कृत 'संगीत सुधाकर' के अतिरिक्त दो और ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जिनका नाम 'संगीत सुधाकर' है । इन दो ग्रन्थों के रचनाकार हरिपाल और सिंह भोपाल हैं ।

अप्पा तुलसी रचित 'संगीत सुधाकर' आर्य भूषण मुद्रणालय, पूना द्वारा प्रकाशित हुआ है । अन्य ग्रन्थों की भाँति इस ग्रन्थ का भी आरम्भ मंगलाचरण से हुआ है । इस ग्रन्थ में दो अध्याय हैं, इसमें अध्यायों को 'स्तवक' संज्ञा दी गई है । प्रथम स्तवक स्वर प्रकरण है तो द्वितीय राग प्रकरण । प्रथम स्तवक में 148 श्लोक और द्वितीय स्तवक में 522 श्लोक हैं । प्रथम स्तवक में स्वर-प्रकरण के अन्तर्गत संगीत विषय वस्तु (उद्देश), दशी, मार्ग, नादोत्पत्ति, श्रुति-स्वरादि व्यवस्था, स्वरों को संख्या, विकृत स्वर, वादि-संवादि लक्षण, गाम, मूर्च्छना-वर्णन, अलंकार, जाति, गीति, गमक, आलाप तथा सुगायक-दुर्गायक के लक्षण और सुशारीर का वर्णन किया गया है । द्वितीय स्तवक 'राग'

प्रकरण में राग की परिभाषा, उसके 10 लक्षण के बाद 124 रागों का वर्णन, राग में लगने वाले प्रमुख तत्त्व, रागोद्देश तथा अन्य महत्वपूर्ण बातों का वर्णन किया गया है ।

इस ग्रन्थ के मंगलाचरण के बाद अप्पा तुलसी ने अपना परिचय इस प्रकार लिखा है-

'अपातुलस्युपाख्येन परलीक्षेत्रवासिना
काशीनाथेन संगीतसुधाकर उदीर्यते ।। 2 ।।[8]

द्वितीय स्तवक में रागोद्येश के अन्तर्गत 124 रागों के नाम अंकित हैं- भैरव, बंगाल भैरव, आनन्द भैरव, शिव भैरव, सौराष्ट, रामकली, गुणकली, अहिरी, भैरव, योगिनी, विभास यमनी वेलावली, शुक्ल बेलावली, नट वोलावली, देवगिरी बेलावली, अल्हैया बिलावल, स्पर्दा, देशकार, लच्छासाख, कुकुभ, मांड, भैरवी, सिन्धुभैरवी, भूपाल, शुद्ध सामन्त, तोड़ी, गुर्जरी तोड़ी, मियाँ तोड़ी, लाचारी तोड़ी, आसावरी, जौनपुरी, देशी, देवगान्धार, खट, देशाख्य, सुहा, सुघरर्ह, मध्यमादि सारंग, वृन्दावनी, तानसेन सारंग, बड़हंस, गौड़सारंग, पटमंजरी, धनाश्री, भीमपलासी, हंसकिंकिणी, लीलांबरी, मुल्तानी, पीलू, बर्वा, मारू, मालीगौरा, वराटी, जैत्रो, मालवश्री, पूर्वी, त्रिवेणी, टंकी, साजगिरी, रेवा, मालवी, जैतश्री, पूरियाधनाश्री, श्री, गौरी, दीपक (सभी 69 दिन के राग); यमन, शुद्ध कल्याण, भूपाली, हमरी, श्याम, कामोद, हेम, चंद्रकान्त, नट, छायानट, केदार, मलुहा, चांदनी, पूरिया, खमाज, खंभावती, रागेश्वरी, दुर्गा, तिलंग, झिंझोटी, पहाड़ी, सोरठ, देस, जैजैवन्ती, तिलक कामोद, गौडमल्लार, मल्लार, मेघ मल्लार, सुर मल्लार, मियाँ मल्लार, विहंग, शंकरा, काफी, सिंदुरा, गारा, कर्णाट, नायकी, हुसैनी, कौशिकी, अड़ाना, सहाना, बागेश्वरी, बहार मालकौंस, हिंडोल, बसंत, भटियार, भंखार, पंचम, परज, सोहनी, कलिंगड़ा ललित, पंचम, मंघरंजनी, ललित (सभी 55 रात्रिर्गेय राग) ।

अप्पा तुलसी रामभक्त स्पष्ट प्रतीत होते हैं क्योंकि उनके ग्रन्थों के आरम्भ में मंगलाचरण में उनके आराध्य राम अथवा सियाराम हैं ।

इस प्रकार, हम पं. अप्पातुलसी काशीनाथ शास्त्री के उल्लेखनीय योगदान से परिचित होते हैं । अनेक विकृतियुक्त समाज में संगीत के शास्त्र और क्रियात्मक पक्ष के बीच तादात्मय स्थापित कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया । शिक्षा के अभाव में गुरुमुखी परम्परा और शास्त्रीय सिद्धान्त के बीच खोखलापन था, संगीत-समाज सिद्धान्तों से अनभिज्ञ था । इस अनभिज्ञता से परिचित कराने का कार्य अप्पा तुलसी ने किया और इस प्रतिकूल परिस्थिति को समझते हुए उन्होंने ग्रन्थों की रचना कर शास्त्र एवं प्रयोग के बीच तारतम्य बनाने का श्रेयस कार्य किया ।

सन्दर्भ-

1. शर्मा, पं. विष्णु, रागकल्पद्रुमांकुर, निर्णय सागर मुद्रालय, बम्बई, 1911
2. शर्मा, पं. विष्णु, राग चन्द्रिका, निर्णय सागर मंत्रालय, 1911
3. चिंचोरे, प्रभाकर नारायण, भातखण्डे स्मृति ग्रन्थ, इं. क.सं.वि.वि., खैरागढ़, पृ.- 489
4. शर्मा, भगवत शरण, संगीत ग्रन्थ शास्त्र, 1988, पृ.- 57
5. पं. भातखण्डे, उत्तरभारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ.- 56
6. शर्मा, पं. विष्णु, रागचन्द्रिकासार, आर्यभूषण मुद्रणालय, पृ.- 13, (1919)
7. शास्त्री, अप्पा तुलसी काशीनाथ, अभिनव ताल मंजरी, 1978, संगीत कार्यालय, हाथरस
8. शास्त्री, अप्पा तुलसी काशीनाथ, संगीत सुधाकर, 1917, श्लोक सं.- 2, पृ. संख्या-1, आर्य भूषण प्रेस, पूने

Aesthetics of Ghazal singing

Dr. Rahul Madhukar Ranade*

Ghazal is very popular in lovers of Indian music. Ghazal as a form of vocal music is mostly appreciated by the audiences who like soft, emotional, lyrics based, light and semi classical music.Ghazal is a singing style which has much emphasis on poetry. That is why it is called 'Shabda Pradhan Gayki'.Traditionally ghazal singing is considered semi-classical style of Uttar Hindustani Music.

Originally ghazal is a form of Urdu poetry. It originated in Persia (present Iran). Original language of ghazal is Farsi. In Farsi ghazal means praise to beauty of beloved. So its lyrics depicts romantic feelings. After Islamic invasion in India, ghazal travelled from Persia to India. Urdu language originated in India which was mix of Farsi and Hindi language. Ghazal was explored by poets in India in hindi-urdu language. It is considered that from about 17nth century ghazal started being popular in india as a form of poetry. Till present times it has retained its popularity since then.

Key Words : Ghazal, Aesthetics, Music, Singing, Aspect, Poetry.

It is said that ghazal started being popular as form of singing since 19nth century in Indian sub-continent. In the beginning, ghazal was explored by some singers, who were singers of semi-classical music style of north Indian music. This is the reason ghazal is traditionally considered semi-classical type of singing.

In history of ghazal singing we can't forget mentioning names of some great singers who made ghazal extremely popular in Indian audiences. Pioneer was Begum Akhtar, who was a trained performer of north Indian semi-classical music. She explored ghazal singing in private concerts. It was widely appreciated by audiences. Later on great ghazal singers like Mehdi Hassan khan, Ghulam Ali, Jagjit Singh etc. largely contributed to make this style very popular. Filmy playback singers like K.L.Sehgal, Talat mehmood, Md. Rafi etc. also contributed in this style. Some other ghazal singers like Bhupinder Singh-Mitali Singh, Talat Aziz, Pankaj Udhas, Chandan Das, Hariharan etc. have kept the popularity of ghazal singing intact till date.

Different aspects of ghazal

Ghazal is a perfect combination of two arts, i.e. poetry and music. So overall aesthetics of ghazal depends on its poetical aspects as well as its musical aspects. Poetical aspects of ghazal composing and singing has great influence on its musical aesthetics. So before discussing musical aspects of ghazal, let's see some poetical aspects of ghazal.

Poetical aspects of ghazal

a) Technical aspects:

As mentioned before basically ghazal is form of poetry. It has some rules regarding its meter and rhyming etc. which makes this form of urdu poetry very unique. Ghazal is made of several couplets which is called 'sher'. Each sher has two lines. First line is called ' Ula Misra' and second line is called 'Sani Misra'. This both misra

* Vocalist, Music Mentor, Freelancer, Mauritius.

have same lenth. This length is determined by a concept called 'Baher'. First sher is called 'Matla'. In matla both misras are in perfect rhyming. This concept of rhyming is defined by two concepts of urdu poetry namely 'Radif' and ' Qafiya'. These technical aspetcs of radif, qafiya and baher influences musical composition of ghazal in many ways. And off course words used to convey meanings and feelings has big influence not only on composing, but also on singing of ghazal. In ghazal, each sher can have different subject, and still due to radif and qafiya all shers are connected some way. Ula misra initiates some thought or subject and sani misra completes that thought. Ula misra is like a question raised and sani misra is answer to that question. Standard of each sher lies in poetic beauty and intensity of this question and answer. Much more can be said about technical aspects of ghazal as poetry, but here this much is enough for our topic. All these technical aspects of ghazal writing has great influence on its musical rendition, which determines aesthetical value of ghazal singing.

b) Emotional aspects:

As mentioned in introduction of ghazal, subject of ghazal is originally romantic in nature. Romance can be considered main theme of this poetry. But as we know sorrow of separation from beloved also is part of romance. So we also see shers which depict pathos and pain. But later as ghazal kept its journey on, poets started exploring other subjects like, hardships of daily life, philosophy of life and also spirituality. We can see that all these themes of ghazal gives it wide range of emotional aspects. But what is typical of ghazal is, that generally whatever may be the theme, ghazal from beginning has an introvert, and deep approach. Which makes it very distinct and special form of poetry. Again these emotional aspects of ghazal have great influence on how it is presented in singing, which determines its aesthetics.

After discussing these poetical aspects of poetry, let's now explore musical aspects of ghazal, which is the basis of its aesthetical value as form of music and singing.

Musical aspects of ghazal:

a) Technical aspects:

Musically ghazal is sung in different styles in present times. But traditionally ghazal singing is considered semi-classical style of music. Hindustani semi-classical style, is also sometimes referred as 'thumri style'. In this style words and its expressions are important. Words are expressed with different musical variations which is called 'bol banav'. To do this bol banav, many aspects of gayki are used, which will be discussed later. In present times ghazal singing got modified in many ways. Besides its indian semi-classical style, ghazal is sung in simplified light music style. Due to which western instruments also got place is presentation of ghazal.

b) Emotional aspects:

According to basic definition of ghazal as poetry, the main feeling of ghazal is romantic. But as we saw earlier, in present times different subjects are explored in writing ghazal, like pathos, misery, separation from beloved, philosophy, spirituality etc. Due to this, musical rendition of ghazal is introvert, soft, calm, deep, and soulful.

Musical composition of ghazal:

Before singing ghazal, its musical composition is done by the composer. To achieve desired aesthetical outcome of ghazal, it is composed in such a way that all these poetical and musical aspects are incorporated. This can be achieved by 2 ways.

1. Choice of Swars and Raags in composition

2. Choice of Taal and its laya in composition

We will discuss these aspects in detail.

1. Choice of Raags and swars:

As discussed earlier traditionally ghazal is considered semi classical thumri style. In this style chanchal prakruti raags like Kafi, Khamaj, Pahadi, Pilu, Bhairavi, Tilang etc are used. But in present times, as ghazal evolved, composers started using other raags also.

Raag is selected according to overall mood of ghazal. For example,

a) For romantic moods, raags of Bilawal, Kalyan and Khamaj thaats, like Bihag, Maand, Bhinna Shadaj, Khamaj, Kalavati, Yaman, Maru Bihag, Bhupali, Gaud sarang, Jhinjhoti, Jog, etc. are selected.

b) For sad moods, raags from thaats like Kafi, Asawari, Poorvi, Todi, Bhairavi, can be selected. Which can be Kafi,Bhimpalasi, Bageshree, Darbari, Bhairavi,Malkauns, Chandra kauns, Puriya Dhanashri, Todi, Bhairavi etc.

c) For different abstract moods raags like Bhairav, Marwa, Charukeshi, Ahir Bhairav, Kirvani, Shivranjini, Madhuvanti, Bhupeshwari etc. raags can be selected.

As this is semi classical style, any raag can be mixed with other raags. Or swars out of raag can be mixed, to creat serious mood as well as little mix light mood. Ghazals are also composed without considering any raag, and just creating melody which suits the mood of poetry. Different composers have different styles of composing which gives different aesthetical colours to ghazal. Mostly ghazal singers compose ghazals themseleves.

2. Choice of Taal and Laya:

Taal has great role in getting desired aesthetics of any form of music. Aesthetics of ghazal lies in its calm mood. But as this is semi classical and light form, its aim is also recreational. So taal and its nuances becomes utmost important in this style. Taals like Dadra, Kaherwa, Roopak are mostly selected. Sometimes other taals like Deepchandi, Jhaptal are also used based on baher of ghazal. Some special 'Thekas', patterns and speeds are used in ghazal style, due to which sometimes these thekas are referred as ghazal dadra, ghazal kaherwa etc. by performers.

Aspects of ghazal singing:

After analyzing composing of ghazal, lets now see the most important part of any music. That is performing. Particular way of rendition and presentation of ghazal by a ghazal singer brings out very distinct and special aesthetics of ghazal.

We can consider 3 points regarding singing of ghazal by a singer.

1. Nuances of gayki: As ghazal is semi classical style of singing, its aesthetics depends much on proficiency of singer. Classically trained

singer is generally expected in ghazal gayki, who must have ability to sing khatkas, murkis, small taans, kaku bheds (voice modulations) etc.

'Behlava' like a thumri style is done to create yearning. As we saw in ghazal, first misra of sher is like a question, or raising some issue, or creating some mystery and second misra is answer to this. So this aspect of ghazal is enhanced by creating yearning through behlava. After creating enough excitement through behlava, second misra is rendered.

So to do this behlava through raag and its swars, singer should be well trained in gayki.

2. Approach of voice: Approach of voice is the most important part of singing ghazal. A deep, soulful, husky voice with stability and calmness is required for ghazal singer. To develop this ability, singer should have sound knowledge of voice culture. Understanding of poetry, its meaning and its feelings and emotions is required, which gives enough depth to personality of singer to produce such voice. As this is shabda Pradhan gayki, very precise pronunciations of hindi-urdu language are essential for singer. Exact pronunciations also automatically gives required voice approach. Though singers have different styles of gayki, their approach of voice always remains soulful, which is very special and unique feature to ghazal. Ghazal singer also gives very special attention to precise pitching of swars, which creates mesmerizing effect on audiences.

Overall performance of ghazal and its aesthetics:

Journey of ghazal performance starts after choosing right poetry of ghazal and composing it appropriately by composer. Many times this is done by singer himself or herself.

Ghazal singing starts with some small alap either of the raag in which it is composed or nearby swars of composition. Some singers sing ''Qata' before starting main ghazal. Qata means 4 lines, which can be specially written by some poet, or ghazal singer takes it from some other ghazal which matches with the feeling of main ghazal. Alap and qata sets the mood for main ghazal. Instrumental alap also is done many times before singing alap. After this main ghazal starts in taal. Tabla is used for accompaniment as main rhythm instrument in ghazal. Other side-rhythms are also used depending upon singer's choice. Although main taals used are dadra, kaherwa, roopak, or sometimes jhaptal, deepchandi, but thekas used of these taals are very typical as stated before.

Singer establishes ' matla' of ghazal, which is generally called 'Sthai' in singing. After sthai comes interlude music. Different Indian musical instruments like sarangi, harmonium, violin, sitar, flute, santoor etc. are used traditionally. In modern times singers also started using keyboards and guitars. After this next sher is sung as 'Antra'. Ula misra of antra is sung many times with different variations, which is called behlava. Behlava creates necessary yearning for sani misra. Now sani misra is rendered which dissolves the mystery created by ula misra. This excitement is reciprocated by variation in theka. Also a feature of taal called 'Laggi' is used for this. Laggi is played in double

speed then actual laya. Laggi also breaks the monotony of calmness and gives recreation to mind of listeners. Generally laggi is played after each sani misra or played only in the end. Rendition is finished with tihai in the end.

This way in ghazal singing, we keep getting a concept of aesthetics called construction and immersion of yearning in each sher of ghazal. Different ras and bhavs are created through raag, combinations of swars, combinations of taal, nuances of singing, approach of voice etc. which gives tremendous pleasure to listener. According to Navras' theory of bharat muni, we can feel shrinagar ras, karun ras, shant ras, adbhut ras etc. in this style, through raag, combinations of swars, combinations of taal, nuances of singing, approach of voice etc.,which gives tremendous pleasure to listener.

Conclusion:

Ghazal is aesthetically one of the richest forms of vocal music, which has tremendous scope of aesthetical values. Poetical aesthetical values of ghazal are tremendously enhanced in its musical presentation. This is the reason ghazal is one of the most celebrated musical form in Indian music.

डुमराँव घराना

-डॉ. अरविन्द कुमार*

बिहार का डुमराँव घराना ध्रुवपद अंग की गायकी के लिए प्रसिद्ध है । मुख्यरूप से डुमराँव महाराजा के दरबारी संगीतज्ञो द्वारा इस घराने की स्थापना की गई है । डुमराँव के पास कई गाँव, जैसे धनगाई, पवई, ईश्वरपुर, ब्रह्मपुर आदि को ध्रुवपद अंग के संगीतकारों की साधना-भूमि होने का गौरव प्राप्त है । ये गौड़ ब्राह्मण मल्लिक, मिश्रा, दूबे, पाठक, उपाध्याय आदि उपाधि धारक हैं । इनकी परम्परा में गायन-वादन (तन्त्रवाद्य और तालवाद्य) दृष्टिगत होता है, नृत्य नहीं ।

डुमराँव घराना को समृद्ध करने में धनगाई के संगीतज्ञों का महत्त्वपूर्ण योगदान है, इसलिए इस घराने को 'धनगाई' घराना का नाम से भी जाना जाता है । इस गाँव के चार भाई माणिकचंद, अनूपचंद, ज्ञानचंद और वाटुरचंद सिद्ध गायक थे । माणिकचंद एवं अनुपचंद का गायन सुन दिल्ली दरबार द्वारा 'मल्लिक' की उपाधि दी गई थी, ऐसी जनश्रुति है । माणिकचंद के पुत्र ठाकुर चंद दूबे और गंगा चंद दूबे भी अपने समय के प्रसिद्ध गायक थे । इन्हीं की परम्परा में तिलक दूबे के पुत्र श्यामदत्त दूबे (उपनाम 'घनारंग') ने इस घराने को फलक प्रदान किया ।

मुख्य शब्द : डुमराँव, घनारंग, घराना, ब्रजभाषा, रचना, ध्रुवपद

घनारंग उत्तम वाग्गेयकार थे तथा डुमराँव महाराज के दरबार में राजगायक के पद पर प्रतिष्ठित थे । एक बार महाराजा ने यह जिज्ञासा प्रकट की कि वे ऐसी एक रचना करें जो तुलसीकृत रामचरित मानस की तरह हो । महाराजा रामोपासक थे और घनारंग कृष्णोपासक । बहुत ही कशमकश की स्थिति हो गई, फिर कुछ सोचकर घनारंग ने उन्हें आश्वासन दिया कि वे प्रयास करेंगे । कुछ दिनों बाद इन्होंने ऐसी कृति तैयार कर डाली, इसमें माँ यशोदा श्रीकृष्ण को राम-कथा सुना रही है । इस कृति का नाम 'कृष्ण रामायण' या 'कृष्णायन' रखा । इस कृति में संगीत विषयक चौपाइयाँ, दोहे, छन्द, कवित्व के साथ ध्रुवपद, धमार, चतुरंग, सरगम, चैती, झूला, भजन आदि की बंदिश दी गई हैं । इस ग्रन्थ का प्रकाशन 'नवल किशोर प्रेस, लखनऊ' से हुआ था । इनका सुकोमल-लालित्य रचना करने में कोई जोड़ नहीं था । इनके एक चतुरंग का पद जो झपताल में है इसकी कुछ पंक्तियाँ देखें-

''दई पिय बिनु ब्रज की सखियाँ विकल भईं
धीर ना धरत नैन पावस भई, दई ।''

इन्हीं के द्वारा रचित एक छन्द-प्रबन्ध या छन्द-गान इस प्रकार है जिसे वर्त्तमान में 'होरी' के रूप में प्रस्तुत किया जाता है-

साँवलिया आज धरि पायो री आजु खेलैं होरी ।
ब्रज की लुगाई हरि ठाई बहुराई पुनी ।
पिक स्वर नाई गाई होरी ।।
छबि दरसाई सुख पाई इत उत धाई ।
रंग बरसाई चहुँ ओरी ।।
बजत ताल मृदंग पखावज ढोलक दारा जोरी ।
जलतरंग करताल बीन रव मुरली डफ टंकोरी ।।
चंग उपंग मृदंग संग लय रंग जंग उमगोरी ।
दंग अनंग त्रिभंग लखि तान तरंग बढ़ोरी ।।
छबि छलकत छिन छिपे छपाकर
छूटत छहर पिचकारी ।
छैल छबीले छल नंदन तै लिन्हीं छीन छलोरी ।।

यह पद बहुत बड़ा है इसका अंतिम पद इस प्रकार है-

कोऊ बाँटत बादाम छुहारा कोऊ बाँटत पानोरी ।
कोऊ साँटत पिय को लय उर में कोई चाटत अधरोरी ।।
प्रिय पाहीं जाहीं मुसकाहीं लपटाहीं तनजोरी ।
'घनारंग' के राधा माधव अपनी भक्ति दियोरी ।।

ब्रज भाषा में रचित यह पद साहित्यिक दृष्टि से

*एसोसिएट प्रोफेसर, संगीत, मगध महिला महाविद्यालय, पटना

भी अनुपम है । शब्दानुप्रास, व्यंजना, अभिव्यक्ति आदि काव्य-सौष्ठव की सम्पूर्ण कलाओं से सुसज्जित है । छन्द-गान की यही विशेषता रही है ।

घनारंग नि:संतान थे । इन्होंने अपने भ्रातृपुत्र बच्चू दूबे को संगीत की शिक्षा देकर इस घराने को आगे बढ़ाया । बच्चू दूबे पदारथ दूबे के पुत्र थे । इन्होंने अपने दादा माणिकचंद और अनुपचंद से भी मार्गदर्शन प्राप्त किया था । ये भी डुमराँव महाराज के दरबारी संगीतज्ञ थे । ध्रुवपद-धमार जैसी गंभीर गान-विद्या को भी इतनी सरसता से प्रस्तुत करते थे कि सामान्य श्रोता भी मंत्रमुग्ध हो जाते थे । बच्चू दूबे 'प्रकाश' उपनाम से सांगीतिक रचनाएँ करते थे । इन्होंने भैरव-प्रकाश, सुर-प्रकाश एवं रस-प्रकाश नामक ग्रंथ की रचना की है जिसमें अनेक ध्रुवपद, धमार, सरगम, स्वर-सार्थक, निमात्रिक, निरोष्टिक, भजन, होली, कजरी, झूला, चैती इत्यादि की रचना की है । राग 'भैरव' में इनकी एक रचना की स्थायी इस प्रकार है-

''आदि रमा ज्योति को जो जाने जगत जान पावै
जोई ध्यावै ताहि देत अचल शरण''

एक अप्रचलित राग 'मालश्री' में एक रचना है-

''माननी तु मान तजु मन मोहन सो
तुरत उठहु चलु कुंज सखि हरषि पांवरी ।।''

स्वर-सार्थक एक प्रकार से लाक्षणिक बंदिश में आता है । एक स्वर-सार्थक की एक पंक्ति उद्धृत है-

गौरीश शरणपुनि से गिरे पापी रे मन सा पूरेंगे ।

इस बंदिश में जो शब्द आया है वही स्वर भी प्रयुक्त होता है जैसे 'गौरीश' में 'ग रे सा' स्वर लगेगा ।

उपर्युक्त दोनों इस घराने के 'सूर्य' है, जिनकी कृति से यह घराना कृतिमान हुआ । समस्त मल्लिक परम्परा के गायक इनकी बनायी हुई रचनाओं को गाते हैं ।

राग-विधा की क्रिया और कला को जाननेवाली भारतीय जातियों में मल्लिकों की परम्परा सबसे पुरानी है, किन्तु इनमें रचनाकार बहुत थोड़े ही हुए हैं जिसमें प्रमुख है 'घनारंग' और 'प्रकाश' । 'ध्रुवपद-समीक्षा' नामक ग्रंथ के ग्रंथकार भरत व्यास ने लिखा है कि[1] बच्चू मल्लिक ने ही अपनी रचनाओं में 'घनारंग' और 'प्रकाश' दो उपनामों का प्रयोग किया है । जिन रचनाओं में 'घनारंग' नाम आया है, वे कुछ विशेष साहित्यक व्याख्या के अनुकूल है और 'प्रकाश' नाम प्राय: ध्रुवपदों में प्रयुक्त हुआ है । इनकी रचनाओं को निम्न तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है-

1. साहित्यिक गान, जिसे प्राचीन छन्द-गान, अष्टपदीय अथवा षाडवपदीय गायन भी कह सकते हैं ।
2. ध्रुवपद गान और
3. स्वर-साकार अथवा सार्थक गान ।

इन तीनों में यह तीसरा प्रकार इसी परम्परा की देन है । बच्चू दूबे के शिष्यों में पं. सुदीन पाठक (सितार) विश्वनाथ पाठक, जमिनी पाठक, जवजतन मल्लिक, रघुनन्दन दूबे, मुकुटधारी दूबे, सहदेव दूबे प्रमुख थे । इसी परम्परा में जयमुन पाठक, हरि सहाय मल्लिक, हरिशरण मल्लिक, हरि प्रसाद मल्लिक, रामप्रसाद पाण्डेय, रामलाल दूबे, शिवजतन मल्लिक, राजतन मल्लिक, पदार्थ मल्लिक, राधिका दूबे, सरयुग पाठक आदि हुए हैं । वर्त्तमान में पं. रामजी मिश्र, डॉ. कामोद पाठक इस परम्परा को आगे बढ़ा रहे हैं ।

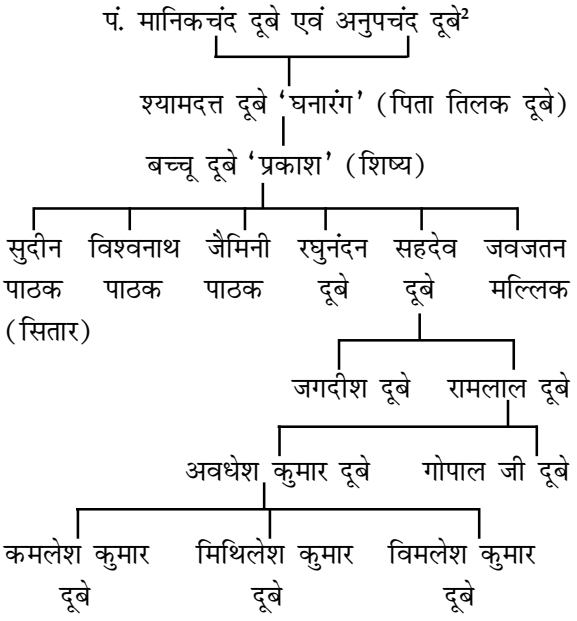

पं. रामप्रसाद पाण्डे इस घराना के माने हुए संगीताचार्य थे, जिन्होंने अपने पिता शिवजतन पाण्डे तथा अपने मामा रामगोविन्द पाठक (सितार) से संगीत की शिक्षाप्राप्त की थी ।

हथौड़ी (दरभंगा) गाँव के सरयुग पाठक भी डुमराँव घराना से सम्बंधित थे । इनका विवाह डुमराँव घराना के संगीतज्ञ परिवार में हुआ था । वहाँ से इन्होंने संगीत की शिक्षा प्राप्त की थी ।

सरयुग पाठक[3] (पुत्र)
|
सत्यनारायण पाठक (ख्याल गायक)
|
डॉ. कामोद पाठक (पुत्र) पं. रामजी मिश्र (भगिना)

पं. रामजी मिश्र वंश-परम्परा से भी डुमराँव घराने से ही आते हैं । वर्त्तमान में आप इस घराना के प्रतिनिधि कलाकार हैं । डॉ. कामोद पाठक भी इस परम्परा के मान्य संगीतज्ञ हैं ।

इस घराना की विशेषताएँ-

1. छन्द-प्रबन्ध, ध्रुवपद-धमार के साथ-साथ कठिन सरगम, चतुरंग, रागमाला, त्रिवट, नवरंग आदि का गायन
2. अप्रचलित रागों का प्रचलन- मोहिनी, गोहनी, स्नेहा भैरवी, सुही, जुही, कुरंग, बहुली, सभावती, हेमा, चित्राजी, पदचंचली, कौस्तुभ, देवगंधार, त्रिवेणी, श्यामनाट, मनोहरी, कुमारिका, हर्ष आदि ।
3. साहित्यिकगान- छन्दगान, अष्पदीय-षाडवपदीय गान ।
4. स्वर साकार या सार्थक गान
5. रागों का संक्षिप्त आलाप आदि ।

दरभंगा घराना के प्रसिद्ध गायक क्षितिपाल मल्लिक भी इसी वंश परम्परा से आते हैं । इनके पूर्वज उदित प्रकाश मल्लिक और भरोशा प्रकाश मल्लिक डुमराँव महाराजा के दरबार से दरभंगा महाराजा के आग्रह पर दरभंगा दरबार आ गए, जिन्हें राज गायक का पद दिया गया । दरभंगा और डुमराँव घराने के संगीतज्ञों का वैवाहिक सम्बन्ध होने के कारण एक-दूसरे के ज्ञान से प्रभावित होते रहे हैं जिसके कारण दोनों घराने में राग और बंदिश एक समान ही प्रचलन में है ।

इस घराना के संगीतज्ञों ने समय-समय पर अपने सौन्दर्यबोध एव कल्पना से संगीत को निरन्तर उन्नत तथा जीवन्त परम्पराओं के नवोन्मेष के साथ पूर्ण शाश्वत मूल्यों का विकास किया है ।

संदर्भ-

1. व्यास, भरत, ध्रुवपद- समीक्षा, उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी, लखनऊ, प्र.सं.- 1980, पृ.- 75
2. डॉ. कामोद पाठक से वार्त्ता के आधार पर
3. वही

पंजाब के लोक गीत

–डॉ. भगवंत कौर*

लोक गीतों का बीजरूप ऋग्वेद में उपलब्ध है। वैदिक काल से विभिन्न उत्सवों, सामाजिक पर्वो पर गाये जाने वाले गीतों का संकेत मिलता है। लोक गीतों पर विचार करते हुए महात्मा गाँधी ने कहा था ''लोक गीतों में धरती गाती है, पहाड़ गाते हैं, नदिया गाती हैं, फसलें गाती हैं, उत्सव और मेले, ऋतुएँ और परम्पराएँ गाती हैं।'' लोक गीत जन–मानस का सर्वाधिक पूर्ण और सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। अनादि काल से मनुष्य मन से प्रवाहित लोक गीत वह भावधारा है, जिससे किसी देश के जीवन और साँस्कृतिक विकास का ज्ञान होता है।

पंजाब लोक गीतों की धरती है। पंजाबी लोक गीतों की भारतीय साहित्य में अपनी अलग पहचान तथा विशेषता है। यहाँ पर यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है, कि संगीत और ताल–स्वर की तीव्र गति युक्त भारतीय लोक गीतों में पंजाब के लोक गीत सर्वोच्च स्थान रखते हैं। पंजाब के लोक–गीतों की यही विशेषता रहती है, कि यह अन्य देश–विदेशों में भी उत्कंठा से सुने तथा सराहे जाते हैं। पंजाब क्षेत्र में बोली जाने वाली पंजाबी भाषा में अनेक गीतों की रचनाएँ मिलती हैं।

मुख्य शब्द : लोक गीत, ग्रामीण जीवन, त्योहार, बालगीत, लोक जीवन

पंजाब के लोक गीत

पंजाब के ग्रामीण जीवन का प्रत्येक कार्य लोक गीतों के माध्यम से किया जाता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न गीतों का संग्रह लोक–गीतों के रूप में प्राप्त किया जा सकता है। पंजाब के लोक गीतों में क्रमशः बच्चे के जन्म, बच्चे को सुलाने के लिए लोरी गीत, बालक–बालिका के खेल–कूद से संबंधित गीत, सावन के महीने में झूला–झूलने, गिद्धा तथा किकली के रूप में गीतों को गाना तथा नृत्य करना, विवाह गीत में पिता व पुत्री तथा माता व पुत्री की वर्तालाप लोक गीत के रूप में, सुहाग गीत, लड़की की विदाई के गीत, फसल बीजने व काटने से संबंधित गीत, प्रेम–बिरहा से संबंधित गीत तथा हीर–रांझा की प्रेम गाथा इत्यादि को लोक गीतों के रूप में गाया तथा रचा गया है, जो इस प्रकार हैं–

एक प्रसिद्ध अखाण है ''पंजाब दयां जम्मया नू नित्त मुहिम्मा'' यह भी कहा जाता है कि गाती, नाचती, झूमती संस्कृति को सम्भाले बिना हम अर्थात् पंजाबी मौत को भी मज़ाक करने वाले पंजाबियों के हँसते बोलते चेहरे खेलते सौभाव का विज्ञानिक विश्लेषण नहीं कर सकते।''

पंजाबी हर चीज़ को बहुत ध्यानपूर्वक देखते हैं। किसी भी बात को गीत में जगह देने से पहले उसे अपने विचारों के आधार पर सोने की कसौटी की तरह रखते हैं। तगड़े जुस्से वाले लोक ही लोक गीतों को गा सकते हैं।

''दो दिन घट्ट जियोना, जियोना मटक दे नाल''

अर्थात् जिन्दगी भले ही छोटी हो लेकिन वह आत्मसम्मान से जीने में अधिक विश्वास रखते हैं।

पंजाबियों का अच्छे खान–पान में बहुत रुझान रहता है, जिसका चित्रण लोक गीतों के रूप में भी प्राप्त होता है।

''कच्चा दुध पीण दे शौकीन ही यह बोल मुँह से बोल सकते है– मुंडा जम्मूगा दही दे फुटु वर्गा, कच्चा दुध पीन वालिए''

अर्थात् अच्छे खान–पान द्वारा अच्छी सेहत वाली सन्तान की प्राप्ति होती है।

पंजाब के लोक गीतों में भाव पक्ष की प्रधानता रहती है। यह भाव पक्ष लहु मास की तरह आपस में रचे

*संगीत एवं नृत्य विभाग, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

होते हैं। लोक गीत में आज भी मास अर्थात् महीनों की चर्चा होती है। जब स्त्री लोक गीत गाती है तो उसके मन की वेदना इस प्रकार प्रकट होती है–

''चड़्हया महीना जेठ कि जेठ पलेठ कि लूआं डाडियां
माही गया परदेस न खबरा साडियाँ
चड़्हया महीना हाड कि तपण पहाड़ कि बलण अंगीठियां
माही गया परदेस में बिरहा लूठियां।''

पंजाब के लोक गीतों में बालक बालिका के बालपन का वर्णन भी मिलता है। एक लोक गीत में अपने बचपन का गीत बालिका इस प्रकार गाती है–

''निक्की हुन्दी मैं रहंदी नानके खांदी दुध मलाइयां
तुरदी दा लक्क झूटे खांदा, पैरी झांजरा पाइयां
त्रिजणां च नचदी फिरां, देवे रूप दुहाइयां।''

पंजाबी लोक गीतों में पेड़–पौधों का भी वर्णन प्राप्त होता है। जैसे– बोहड़, आम, बेरी, किक्कर, शहतूत, टाहली, वण, करीर, जंड, नीम, फुलाही, इमली तथा नीम्बू इत्यादि। हमारे दैनिक जीवन में उपयोग होने वाली वस्तुओं में पेड़ों का बहुत महत्व है। इनका हमारे जीवन से गहरा रिश्ता है। 'मावां (माँ) ठंडियां छावा' के आखाण द्वारा हमारी भावनाओं को एक गति मिलती है जो हमारे अन्तरमन को छू जाती है।

''पिप्पल गावे, बोहड़ गावे, गावे हरयाला तूत
खड़ के सुण राहिया, तेरी रूह (आत्मा) हो जाऊगी सूत।''

पंजाब के लोक गीतों में गाँव की बहुत चर्चा की गई है। गाँव जिसे पंजाबी में 'पिंड' कहा जाता है। लोक गीतों में किसी खास गाँव अर्थात् पिंड का नाम लेकर लोकगीत रचा तथा गाया जाता है। जो इस प्रकार है।

''पिंड विच्चों पिंड सुणींदा, पिंड़ सुनीदा लल्लियां
ओथो (वहाँ) दे दो बलद (बैल) सुणीदे, गल उन्हा दे टल्लियां
नट्ठ नट्ठ के ओह मक्की नीजदे, हत्थ–हत्थ लग्गियां छल्लिया
बंतो दे बैला तूँ पा दे गुआरे दिया फलियां।''

पंजाबी लोक गीतों में 'सुहाग के गीत' विशेष महत्व रखते हैं। सुहाग गीतों में उस कन्या के मन के भावों का वर्णन किया गया है, जब वह निसंकोच अपनी शादी की बात अपने पिता से करती है, जो इस प्रकार है–

पिता पुत्री से पुछता है–

''बेटी चन्नण दे ओहले (पीछे) क्यों खड़ी
नी जाइये, चन्नण दे ओहले–ओहले क्यों खड़ी।''

पुत्री पिता को जवाब देती है–

''मैं ता खड़ी सां बाबल जी दे बार बाबल वर लोड़िए।''

पिता पुत्री से पुछता है–

किहो जिहा वर लोड़िए
नी जाइये! किहो जिहावर लोड़िए?

पुत्री पिता से–

''ज्यों तारयां (तारे) विच्चों चन्न
चन्ना विच्चों कान्ह, कान्हया वर लोड़िए?''

इस प्रकार से सुहाग गीतों के द्वारा प्रत्येक रिश्ते–नाते की बात को गीत के रूप में बताया जाता रहा है। वह रिश्ता पिता–पुत्री का पति पत्नी का, सास–बहु इत्यादि के होते थे। सुहाग गीतों को वार्तालाप के रूप में तथा समूह में भी गाया जाता था।

जन्म गीत व लोरियां गीत :

पंजाब में पुत्र–जन्म के समय विशेष गीत गाये जाते हैं, जो इस प्रकार है–

''चन्न चढ़िया बाप देखे
बीर घर पुत जमिआ''
''हरिआ नी माए हरिआ नी भैणां
हरिआ ते भागी भरिया
जित दिहाड़े मेरा हरिआ नी जमिआ
सोइऊ दिहाड़ा भागी भरिया।''

इस लोक गीत में 'हरिआ' शब्द पुत्र के लिए प्रयोग किया गया है। पुत्र के जन्म के बाद उसकी

लोहड़ी मनाई जाती है। लोहड़ी पंजाब का विशेष त्यौहार है। यह शरद ऋतु में 13 जनवरी को मनाई जाती है। लोहड़ी से कुछ दिन पहले लड़के–लड़कियाँ टोली में घर–घर जाकर लोहड़ी माँगते तथा लोहड़ी का गीत गाते हैं, जो इस प्रकार हैं–

''साडे पैरां हेठ सलाई कुड़े, असीं केहड़े बेले दियां आइयां कुड़े
साडे पैरां तले रोड़, सानू छेती–छेती तोर।''

एक अन्य गीत प्रकार इस तरह है–

सुन्दर मुन्दरिए .....हो
तेरा कौन प्यारा.....हो
दुल्ला भट्टी वाला.....हो
दुल्ले धी (पुत्री) ब्याही.....हो

इस प्रकार से लोहड़ी का त्यौहार पंजाब में काफ़ी उत्साह से मनाया जाने वाला त्यौहार है। वहीं इसमें विविध गीतों की रचनाएँ भी मिलती हैं।

लोरी गीत

लोरी गीत को विविध गीतों की श्रेणी में रखा जा सकता है। लोरी गीत से अभिप्राय बाल गीतों से भी है। लोरी गीत में बालक को सुलाने के लिए धीमी–धीमी आवाज़ में गीत सुनाया जाता है, जिसे सुनकर बालक सो जाता है, जो इस प्रकार है–

''सो जा मेरे लाडलिया, सो जा मेरे लाडलिया
नानकियां नूं जावेगा, झग्गा चुनी लियावेगा
नानी दित्ता घयो (घी) जीवे लाल दा पियो (पिता)।''

निष्कर्ष :

पंजाब के लोकगीतों में पंजाब के लोक–जीवन शैली की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। पंजाब का रंगीला वातावरण तथा खुशहाल लोगों के जीवन का चित्रण गीतों में स्पष्ट झलकता है। अपने जीवन में आने वाली प्रत्येक सुख–दुख की घटना में पंजाबी लोग एकत्रित होकर एक–दूसरे की हृदयगत भावनाओं को लोक गीतों के माध्यम से प्रकट करते हैं। प्रत्येक अवसर पर लोक गीतों की भूमिका अहम रहती है। इस प्रकार से पंजाब के लोक गीत पंजाबी जीवन का अटूट अंग बने हुए हैं।

सन्दर्भ सूची

1. सिंह, लाल, (डायरेक्टर भाषा विभाग पंजाब), पंजाब दे लोक गीत, प्रकाशनः डायरेक्टर भाषा विभाग, पंजाब, पटियाला संस्करण–मार्च 1961
2. वर्ग, श्रीमती राजरानी, हमारे संस्कार गीत, प्रकाशनः मित्र प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड इलाहाबाद, संस्करण–मार्च 1962
3. कुलदीप, डॉ., लोकगीतों का विकासात्मक अध्ययन, प्रकाशन : प्रगति प्रकाशन बैतुल बिल्डिंग आगरा–3 संस्करण–जनवरी 1972
4 धनकर, रीता , हरियाणा तथा पंजाब की संगीत परम्परा, प्रकाशन : संजय प्रकाशन अन्सारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण–2003

सामाजिक समरसता का प्रतीक : झरनी

-डॉ. मंजर सुलैमान*

मुहर्रम के अवसर पर मुसलमानों द्वारा जो मर्सिया गाया जाता है वह मर्सिया मैथिली-उर्दू के सम्मिश्रण के साथ लोक नाट्य के रूप में मिथिला में प्रस्तुत किया जाता है जिसे लोग 'झरनी' कहते हैं, जिंदगी की एकरसता को दूर करने के लिए सदा से लोग विभिन्न जाति, धर्म, समुदाय और सम्प्रदाय के लोग, विभिन्न संस्कार और पर्व-त्योहार के अवसर को आनंद और दुख के कोमल कठोर क्षण में लोकगीत, लोकसंगीत, लोकनाट्य द्वारा प्रस्तुत करते हैं जिसमें एक प्रमुख लोकनाट्य के रूप में मिथिला में 'झरनी' विद्यमान है । इस लोकनाट्य में 1400 वर्ष पहिले कर्बला (ईरान) में घटित घटना का स्मरण करते हुए सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक परम्परा को सम्बल देते हुए हसन-हुसैन के बलिदान का मार्मिक चित्रण करते हुए गाते हैं जो अविस्मरणीय होता है । इस लोक नाट्य में कष्ट का करुणामय भाव निहित होता है ।

आरंभ में यह लोकनाट्य मुसलमान समुदाय द्वारा जो ग्रामीण परिवेश में रहते थे खेला जाता था मगर बाद में यह जातीय और धार्मिक बन्धन से मुक्त होकर मिथिला की सामाजिक समन्वय, साम्प्रदायिक सद्भाव और सांस्कृतिक एकता के प्रतीक के रूप में मनाया जाता है । झरनी मिथिलावासी के लोक कण्ठ में बसा ऐसा लोकनाट्य है जो प्राचीन काल से लेकर आजतक कण्ठ संकण्ठ होता हुआ यहाँ तक पहुँचा है और अब लिपिबद्ध किया गया है । मिथिला के इस लोकनाट्य को खेलने का ढंग अलग अलग है कहीं बैठकर, कहीं ठेहुना अड़ा कर, कही घूम-घूमकर, कहीं जोड़ी बनाकर दाहा के चारों तरफ घूम-घूमकर करुणा का चित्र प्रकट करते हुए गाया जाता है । कहीं-कहीं मात्र पुरुष, कहीं महिलाओं के समूह द्वारा तो कहीं दोनों संयुक्त रूप से मिलकर इसे गाते हैं । दाहा (तजिया) के चारों तरफ घूमकर गाते हुए कभी-कभी रोने लगते हैं ।

मुख्य शब्द : झरनी, लोक, संस्कृति, नाट्य, संगीत, नृत्य

भारत गाँवों का देश रहा है और आज भी है । गाँव के लोग प्रकृति पर निर्भर करते है । भारत का ग्रामीण जीवन ओर लोक जीवन सदा समृद्ध रहा है । इसकी जीवतंता और समृद्धि का कारण वहाँ के समृद्ध लोक जीवन और लोक साहित्य रहे हैं । साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है । लोक जीवन में प्रचलित साहित्य को लोक साहित्य कहा जाता है । किसी देश, जाति और समाज की विविध जीवन शैली या सामाजिक सम्बन्धों परम्पराओं, मान्यताओं आदि को मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आर्दशों को समाज द्वारा स्वीकार किए जाने को संस्कृति कहते हैं । सामाजिक जीवन का पतन और उत्कर्ष संस्कृति में ही होता है । संस्कृति वह कसौटी है जिसके माध्यम से विभिन्न सभ्यताओं के उत्थान-पतन का परीक्षण सम्भव है ।

हमारी लोकसंस्कृति ही भारतीय संस्कृति है, लोक में व्याप्त दृष्टि ही हमारी संस्कृति का आधार है । हमारी संस्कृति अत्यन्त समावेशी उदार, सरल सहज और व्यापक है । यह सबको साथ लेकर चलती है और सबको सबकुछ कहने, करने की स्वतंत्रता देती है । सामान्यत: जो संस्कृति लोगों के समावेश, उसकी सामाजिक जीवन शैली और रीति-रिवाज को लेकर पल्लवित-पुष्पित होती है उसे लोक संस्कृति कहते हैं । किसी समाज में रहनेवाले सब व्यक्ति इस संस्कृति को बनाए रखने तथा उपयोग करने में अपनी अपनी भागिदारी निभाते हैं ।

किसी भी राष्ट्र की भाषा और संस्कृति के दो स्वरूप होते हैं । राष्ट्रभाषा और राष्ट्रीय संस्कृति जो सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करती है जबकि क्षेत्रों, अंचलों, जनपदों में बोली जानेवाली बोलियाँ और भाषाएं होती है और उसकी लोक संस्कृति अलग-अलग होती है । अपनी भाषाएँ और संस्कृति को जीवंत बनाए रखने में वहाँ की लोक-कलाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है, बोलचाल

*एसोसिएट प्रोफेसर, डॉ. जाकिर हुसैन टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, लहेरियासराय, दरभंगा
पूर्व सदस्य, साहित्य अकादेमी, मैथिली परामर्शदात्री समिति, नई दिल्ली

रीति-रिवाज, रहन-सहन, तीज-त्योहार, गीत-संगीत इसी के आधार पर क्षेत्रों का सीमांकन होता है । कहा जाता है-

चार कोस पर पानी बदले / आठ कोसी वाणी

लोक संस्कृति का मूल रूप है आम आदमी, जो पढ़े लिखे नहीं थे, उनके हृदय से निकली आवाज, मनोभाव, आचार-विचार, शैली को एक नया स्वर और रूप देने का कोशिश करते, नृत्य करते, गीत गाते तालियों से पीटते जिससे वह अपने जीवन को आनन्दमय बनाने की चेष्टा करते थे और वही जब समाज में स्वीकार किया जाने लगा तो उसे लोक जीवन के आनन्दमीय धन में स्वीकार किया जाने लगा जिसे लोक साहित्य और लोक संस्कृति का रूप दिया गया । लोक साहित्य और लोक-संस्कृति की प्राणशक्तियाँ है- परम्पराएँ, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, विश्वास, देवता, नृत्य नाट्य संगीत, लोककला, लोक साहित्य, लोककलाएँ, लोकगाथाएँ, लोकोक्ति लोकगीत, लोकनाट्य, लोक चित्रकला कहावतें और मुहावरे जो अपने समय और समाज के बीच जन्म लेती हैं, फलती-फूलती हैं ओर आगे बढ़ती हुई एक कान से दूसरे कान, एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ तक होती हुई पीढ़ी-दर-पीढ़ी यहाँ तक पहुँचती हैं । इसमें क्षेत्र का लोक दर्शन, चिंतन शाश्वत प्रवाहमान रहता है ।

मिथिला का इलाका बिहार प्रान्त का प्रमुख क्षेत्र है । इसका अतीत गौरवशाली, वर्तमान उज्ज्वल्यमान, भविष्य प्रकाशमय है । यहाँ की कला, साहित्य, स्थापत्य, संस्कृति वैभवशाली रहा है और है । इस धरती को यह गौरव रहा है कि राजा जनक, याज्ञवल्क्य, कपिल, गौतम, मैत्रेयी, भारतीय, मंडन, विद्यापति, नागार्जुन की जन्मभूमि होने के साथ-साथ कर्मभूमि व तापस भूमि रही है । लोक देवताओं की क्रीड़ाभूमि होने का भी गौरव इसी भूमि को रहा है ।

मिथिला की संस्कृति अति प्राचीन है । संस्कृति जीवन जीने की एक पद्धति है, जिसका निर्माण व्यक्ति या समूह द्वारा होता है । मिथिला में इसकी दीर्घकालीन परम्परा रही है । अपनी कला-कौशल को मिथिलावासियों ने आदि काल से वर्तमान काल तक जीवंत बनाए रखने का प्रयास किया है । यहाँ की प्रचलित भाषा मैथिली या उसकी अपभ्रंश भाषा के माध्यम से व्यक्त करते हुए सभ्यता के प्रभाव को स्वीकार करते हुए व्यक्त करने का प्रयास करते हैं । यह प्राचीन काल से अभी तक कान से कान, पीढ़ी से पीढ़ी, कण्ठ से कण्ठ होता हुआ आधुनिक समय तक पहुँचा है मगर अब इसे लिपिबद्ध और फिल्मांकन कर बचाने का प्रयास किया जा रहा है ।

मिथिला की मधुरभाषा मैथिली, लोक जीवन शैली, अचार-विचार को देखकर उर्दू के पहले कवि अमीर खुसरो जो भारतीय भाषा-संस्कृति के महान उन्नायक थे जो अलख खां के साथ बंगाल की मुहिम पर थे इसी बीच उन्हें ज्ञात हुआ कि उनके धार्मिक और अध्यात्मिक गुरु ख्वाजा निजामुद्दीन औलिय बीमार हो गए हैं, वह बंगाल से दिल्ली रवाना हो गए, जाने के क्रम में कुछ दिन मुजफ्फरपुर में रूके । यहाँ के आचार-विचार, खान-पान, पहनना-ओढ़ना, भाषा-बोली, कला-संस्कृति और पान खाने के बाद लाल होंठ पर लहालोट होकर कुछ छन्द उर्दू, हिन्दी, फारसी और मैथिली के संयुक्त भाषा में कहा जिसे उन्होंने पूरबी हिन्दवी कहा जो वस्तुतः मैथिली ही है, आज भी अद्‌भुत है-

हिन्दू बच्चा है कि अजब, हुस्न झरै छै
बर वक्त सुखने गुफ्तम, मुख फूल झरै छै
गुफ्तम जे लबे लालें, तू बोसा बगीरम
गुफ्ता के अरे राम, तुर्क कि करै छै[2]

लोक साहित्य आवश्यकतानुसार अभिव्यक्ति के लिए अपने अनुरुप भाव, भाषा, भंगिमा ग्रहण कर लेता है । लोकजीवन की अभिव्यक्ति को वाणी देने केलिए वह जिन माध्यमों को अपनाता या स्वीकार करता है वह लोक साहित्य की विधाएँ कहलाती हैं । मैथिली लोक साहित्य अधिक समृद्ध रही है यहाँ की परम्पराएँ, मान्यताएँ आरंभ से ही समाज की आत्मा का उज्ज्वल प्रतिबिंब है । इसमें- लोकगीत, लोकभाषा, लोकचित्रकला, लोकगाथा, लोकनाट्य प्रमुख हैं । सरलता, सहजता और सामूहिकता इस लोकनाट्य की विशेषता होती है । इसमें शास्त्रीय की जटिलता से उत्पन्न तनाव के विपरीत उमंग, उल्लास और आनंद का

पक्ष प्रबल होता है ।

पर्व-त्योहार और सामाजिक जीवन दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । पर्व-त्योहार का इतिहास भी उतना ही पुराना है जितनी हमारी सत्यता और संस्कृति, उसी के अनुरूप प्रसन्नता और पीड़ा भी जीवन का अभिन्न अंग है । अपनी कला-संस्कृति एवं जनपदीय संस्कार, अपनी सरलता, अभ्यागत प्रतिष्ठा, धर्म-पुरान, ज्ञान-गरिमा एवं अपने नैसर्गिक सौन्दर्य के लिए मिथिला पूरे भारत के साथ-साथ विश्व विख्यात है ।[3]

हमारा देश भारत का जन्मस्थान बिहार प्रान्त का मिथिला क्षेत्र विभिन्न संस्कृति का संगम है । इस धरती पर प्राचीन काल से आधुनिक काल तक देश-देशांतर के लोग आते रहे हैं वह अपने साथ भाषा-बोली के साथ-साथ अपनी संस्कृति को भी साथ लाए लेकिन यहाँ रहने के कारण यहाँ की संस्कृति को आत्मसात करके इस तरह मिल गए कि एक चने की दो दाल की तरह इन्होंने इस भूमि के अनुरूप अपने आप को ढाल कर सामाजिक सौहार्द का अद्‌भूत उदाहरण पेश किया इसीका संस्कृति-स्वरूप है- मुहर्रम ।

मुहरर्म अरबी वर्ष का प्रथम महीना होता है । 861 ई. में सितम्बर महीना में मुहर्रम की 10वीं तिथि को हजरत इमाम हुसैन की शहादत कर्बला के मैदान में सत्य और न्याय के लिए लड़ते हुए हो गयी । यह युद्ध इतिहास में इमाम हुसैन के परिवार को बलिदान के लिए अविस्मरणीय है ।

मुहर्रम महीने के आरंभ होते ही एक तारिख से लेकर 10 तारिख अर्थात् दसवीं मुहर्रम तक शिया समुदाय द्वारा कर्बला के उन शहीदों की आत्मा के शांति के लिए आजादरी (शोक प्रकट करने के लिए उन दस दिनों तक) दस दिनों में कर्बला में हुए युद्ध और हजरत हुसैन के क्रियाकलाप का विस्तृत वर्णन जिसमें शोक संदेश होता है किया जाता है इसमें बिना किसी भेदभाव के लोग सम्मिलित होते हैं । सुन्नी समुदाय की इसको शोक दिवस के रूप में मनाते हैं । किसी भी प्रकार का आयोजन यथा शादी, विवाह कोई भी मांगलिक कार्य आयोजित नहीं करते हैं । दसवीं और नैंवी मुहर्रम को रोजा (उपवास) रखकर कुरान पढ़ उन महान आत्मा की चिरशांति के लिए प्रार्थना करते हैं । शिया द्वारा मर्सिया (शोक-गीत) गाकर अपना शोक प्रकट करते हैं ।

भारतीय मुसलमान द्वारा मुहर्रम को एक त्योहार के रूप में मनाया जाता है । मगर ई त्योहार ईद (ईद-उल-फितर), बकरीद (इल-उल-अजहा) की तरह नहीं बल्कि शोक-त्योहार के रूप में मनाया जाता है । मिथिला में भी यह शोक-त्योहार के रूप में मनाया जाता है । मार्सेया का गीत भी मातृभाषा मैथिली में गाया जाता है ।

भारत में मुसलमान के आगमन के साथ साथ मिथिला में भी मुसलमानों का आगमन हुआ वह यहाँ आकर बस गए । इस मिट्‌टी-पानी का प्रभाव उनपर पड़ा जिसका परिणाम हुआ वहाँ यहाँ के संस्कार को स्वीकार और अंगीकार करने लगे, भाषा-बोली, आचार-विचार, पहनना-ओढ़ना, जन्ममृत्यु संस्कार को कुछ उसी प्रकार या कुछ बदलकर स्वीकार करने लगे । इसका प्रभाव है मिथिला के गाँव में रहने वाले मुसलमान मैथिली बोलने के साथ-साथ अपनी भाषा-संस्कृति को भी यहाँ के लोगों के बीच पहुँचाने लगे । स्थानीय भाषा और बोली में अरबी और उर्दू-फारसी के शब्द प्रयुक्त होने लगे । इससे मैथिली भाषा समृद्ध हुई और भाषा में नवाचार आया, भाषा को व्यापकता मिली । मैथिली में सलामी, बरक्काते, आफियत आदि इसी का उदाहरण है । महाकवि विद्यापति की विख्यात पुस्तक 'कीर्तिलता' आ 'कीर्तिपताका' इसका प्रमाण है इनकी कविता में फारसी और उर्दू शब्दों का प्रयोग इस रूप में किया गया है-

हिन्दु-तुर्क के मिलल दास- एकक धम्मि एकक उपास
कतहूँ बाँग, कतहूँ वेद- कतहूँ बिस्मल-कतहूँ छेद
कतहूँ ओझा, कतहु खोजा - कतहूँ मुक्त-कतहूँ रोजा
कतहूँ तुम्हारद, कतहु कोजा-कतहूँ नमाज, कतहूँ पूजा[4]

मिथिला में इन दिनों तक इमामबाड़ा (प्रत्येक

मुहल्ला और गाँव में एक छोटा ऐसा स्थान गहबर जैसा होता है जिसे मुसलमान द्वारा 'इमामबाड़ा' कहा जाता है) में मजलिस पढ़ा जाता है, शोक मनाया जाता है । मजलिस में प्रवचन सुन-सुनकर यहाँ के शिया समुदाय रोते हैं, अपने बदन हाथ को पीटते हैं, 'मर्सिया' गाते हैं, लेकिन इन सबसे अलग मिथिला में यह शोक पर्व सेवाधर्म समभाव और सांस्कृतिक एकता का पैगाम लेकर आता है । मिथिला के सम्भवत: प्रत्येक गाँव और नगर में उस स्थिति को दर्शाने के लिए तजिया (बाँस के बल्ले और उसकी करची से तैयार एक प्रकार का मीनार स्वरूप होता हैं जसे छोटा होने पर चार व्यक्ति नहीं तो पालकी की तरह बड़ा बाँस का बल्ला लगाकर 20 आदमी तक उठाते है और लोगों के समूह में इसे लेकर एक विशेष स्थान 'कर्बला' तक लेकर जाते हैं) बनाते हैं जिसे मिथिला की आम बोल-चाल की भाषा में 'दाहा' कहा जाता है । गाँव में इसे मनाने के लिए मात्र मुस्लिम समुदाय ही नहीं रहते बल्कि सभी जाति, धर्म के लोग सम्मिलित होकर साम्प्रदायिक सद्भाव को विलक्षण रूप में प्रस्तुत करते हैं । मिथिला की महिलाएँ इसपर मनौती माँगती हैं अपनी मनोती-मिन्नत पूरी होने के बाद अगले मुहर्रम में दाहा में अपने बालक को 'जंगी' और पैक बाँधती है (अर्थात् मनौती के उपरान्त दाहा (मुहर्रम) के समय छोटे-छोटे बालकों को हरा वस्त्र पहनाकर हाथ में घंटी और मोर के पंख का पंखा लेकर वह ताजिया अर्थात् दाहा के साथ-साथ उसके पीछे-पीछे कर्बला तक जहाँ दाहा को भसाया जाता है, जाते हैं) सभ समुदाय के लोग दाहा को कंधा देते हैं और कर्बला तक लाठी खेलते हुए जाते हैं ।

'झरनी' एक सामूहिक नृत्य शैली है । सामान्य तौर पर यह लोकनाट्य मिथिला के अतिरिक्त भोजपुरी भाषी भी मुहर्रम के समय में इसको करते हैं । यह नृत्य गीत पुरुषों के झुंड मण्डलाकार होकर दोनों हाथ में बाँस के टोटे का बना हुआ महीन-महीन चीरकर झरही के साथ झरनी गीत गाते हैं । वास्तव में यह नृत्य शोक की कलात्मक अभिव्यक्ति है ।[5] इस समूह गायन की विशेषता है कि दोनों हाथों की झरही को एक-दूसरे पर मारते हैं, कभी वह बगल वाले के झरही पर मारते हुए तजिया के चारों तरफ घूम-घूमकर, झूम-झूमकर वृताकार रूप में गाते हुए ताल पर उठते-गिरते हैं, स्वरों का आरोह-अवरोह पर ही चरण को उठाते और गिराते हैं । प्रश्नोत्तर शैली में यह लोकनाट्य का गीत अत्यन्त मार्मिक, मधुरमय, करुणा, वीरता का चित्रण प्रस्तुत करता है । झरनी खेलने के समय देह, गर्दन सभी गतिमान रहता है । खेलने का ढंग भाषा और क्षेत्र, सामाजिक स्थिति के अनुरूप अलग अलग होता है । यह श्रोताओं, दर्शकों को मंत्रमुग्ध कर देता है ।

मिथिला के इस लोकनाट्य में भाषा-शैली, गीत और गति, स्वरलय के सामंजस्य व्यापक रूप में देखने को मिलता है । इस लोकनाट्य झरनी के लिए कोई प्रशिक्षित कलाकार नहीं होते, इसमें गाँव घर के अप्रशिक्षित अशिक्षित लोग होते हैं मगर भाषा का आदान-प्रदान, शैली-शिल्प का व्यापक समिश्रण देखने को मिलता है जो बहुत मनोहारी होता है । इसके लिए कोई संख्या निर्धारित नहीं रहती है जितने लोग सम्मिलित होते हैं उसका वृत उतना ही बड़ा होता है ।

इस त्योहार के पीछे इतिहास छिपा हुआ है । मुसलमानों को अंतिम पैगम्बर हजरत मोहम्मद सल्लाहो अलैहे वसल्लम के नाती हजरत हसन-हुसैन जिनके पिता का नाम हजरत अली और माता हजरत फातमा थी, ने धर्म के रक्षार्थ अपने प्राण की आहूति देकर अपने धर्म अर्थात् इस्लाम की रक्षा किया । असत्य पर सत्य के विजय के रूप में मुहर्रम मनाया जाता है । इनके जन्म और लालन-पालन ऐसे विख्यात परिवार में हुआ जो किसी से छिपा नहीं है इसका चित्रण झरनी के इस गीत में देखा जाय-

हाय-हाय कहमा जलम लेल लाल सुगबा
कहमा जलम दूनू बचबे हाय
हाय-हाय परबत जलम लेल लाल एक सुगबा
मक्का जलम दुनू बचबे हाय
हाय-हाय कथिये खिलयबइ हमे लाल एक सुगबा
दुधबा पिलयबइ दुनू बचबे हाय
हाय-हाय कथिये पढ़ेबई हमे लाल एक सुगबा

कथिये पढ़ेबई दुनू बचबे हाय
हाय-हाय पिंजड़े पढ़ेबई हमे लाल एक सुगबा
इसकुल पढ़ेबई दुनू बचबे हाय
हाय-हाय, कहाँ उड़ि जेतइ लाल एक सुगबा
कहाँ चलि जेतइ दुनू बचबे हाय
हाय-हाय परबत उड़ि जेतइ, लाल एक सुगबा
मक्का चलि जेतइ दुनू बचबे हाय[6]

दूसरे गीत में करबला के परिवेश का चित्रण प्रस्तुत कर झरनी द्वारा व्यक्त करने का प्रयास किया गया है-

हाय-हाय किनका सिर जलसिलही टोपी
किनका सिर हई धनुषबे हाय
हाय-हाय हजरत सिर जलसिली टोपी
फातमा सिर हई धनुषवे हाय
हाय-हाय दीऔ-दीऔ आहे फातमा बेटा कुरबानी
तीर-धनुषवे चल जा हइ हाय
हाय-हाय एक ओर पड़े फातमा दोसर ओर पड़े हजरत
तीसरे मे बेटा कुरबानी हाय
हाय-हाय किनका सिर जलसिलही टोपी
किनका सिर हइ धनुषवे हाय

करबला की लड़ाई में हसन-हुसैन के बलिदान का चित्रण इस झरनी गीत में देखा जा सकता है-

आहे बीबी, आबहुँ तऽ सिनुरा उतारु
सैय्यद तोहर मारल गेला
आहे लोगो, सैय्यद मोर पढ़थि कोरान
सैय्यद कोना मारल गेला
आहे, दुलहिन, आबहुँ तऽ नथिया उतारु
सैयद तोहर मारल गेला
आहे लोगो, सैयद मोर पढ़थि कोरान
सैयद कोना मारल गेला
आहे कनिया आबहुँ तऽ झुमका उतारु
सैयद तोहर मारल गेला
आहे लोगे, सैयद मोर पढ़थि कोरान
सैयद कोना मारल गेला ।[7]

झरनी गीत के माध्यम से करबला के युद्ध का वर्णन करते हुए गीत के माध्यम से उस स्थान की त्राहिमाम स्थिति, भूख-प्यास से तड़पता हुआ बच्चा लेकिन इसके बावजूद हसन-हुसैन सत्य और न्याय के लिए युद्धरत हैं । इस विकट स्थिति का वर्णन इस लोकनाट्य झरनी के इस गीत में दृष्टिगोचर होता है-

हाँ-हाँ जी लहरो सुखलै इनरवा सुखलै
सुखलै न लाल पोखरिया जी
हाँ-हाँ जी, खबर भेज देहू शहर मदीना मे
जल्दी से पानी भेज देहू जी
हाँ-हाँ जी पानी-पानी गुल मचाया
पानी नहि कोइ देता जी
हाँ-हाँ जी सिर कटा है लाश पड़ा है
लेहू के धार बहा है जी
हाँ-हाँ जी माँटीके ओढ़ना माँटी बिछौना
माटीक कलबन्द बनेलौ जी
हाँ-हाँ जी बालाक गाड़ी में लंगकेर गछिया
लेग सब फड़ले अँडचिये जी[8]

झरनी के इस गीत से ऐसा प्रतीत होता है कि एक सुहागिन स्त्री जिसके द्वारा सुहाग के रक्षार्थ जो कुछ आवश्यक है वह अब कहाँ रहा जिसे वह अपने मनोभाव को प्रकट करते हुए कहती है-

हाय-हाय के जयतै हाजीपुर के जयतै पटना
के जतयै बेतिया शहरबे हाय
हाय-हाय, बाबा जयतै हाजीपुर, भइया जयतै पटना
स्वामी जयतै बेतिया शिहरबे हाय
हाय-हाय के लयतै साड़ी सुगबा के लयतै कंगना
के लयतै सिरके सिन्दूरबे हाय
हाय-हाय के पेन्हतै साड़ी सुगबा के पेन्हतै कंगना
के लगेतइ सिरके सिन्दूरबे हाय
हाय-हाय, अम्मा पेन्हतै साड़ी सुगबा, भौजी पेन्हतै गंगना

हमे लगेबै सिर के सिन्दूरबे हाय
हाय-हाय, फाटि जायतै साड़ी सुगबा, टूटि जयतै कंगना
रहि जयतै सिर के सिन्दूरबे हाय[9]

झरनी लोकनाट्य मिथिला का प्रचलित विख्यात लोकनाट्य है । इसमें अनेक प्रकार के गीत सम्मिलित हैं जो गानेवाले पर निर्भर करता है कि वह किन झरनी गीत को गाने का प्रयास करता है क्योंकि इसमें एक ओर शोक संवेदना आधारित गीत हैं वहीं दूसरी ओर हास-परिहास युक्त ननद-भौजाई का एक दूसरे पर कटाक्ष और सास पतोहु का झगड़ा भी रहता है ।

अन्त में, एक झरनी गीत जो खासतौर से किसी समय होने वाले इस लोकनाट्य में गाया जाता है वह यह है-

हाँ जी, रोइ-रोइ पुछथिन दादी ओजिर से
हम्मर लाल कहाँ छै जी
हाँ जी, मक्का मदीना मे दस करबोला
ओत्तहि मारि पड़ी है जी
हाँ जी, मारि पड़ी है, लहास परी है
खून से दरिया बही है जी
हाँ जी, रोई-रोई पुछथिन अम्मा ओजिर से
हममर लाल कहाँ छै जी
हाँ जी, मक्का मदीना मे दस करबोला
ओत्तहि मारि पड़ी है जी
हाँ जी, मारि परी है, लहास धरी है
खून से दरिया बही है जी[10]

भूमंडलीकरण और बाजारवाद ने उन्नतगामी लोक संस्कृति को विनाश की ओर पहुँचाया है । मिथिला भी इससे अछूता नहीं रहा । संस्कारों में बदलाव के कारण लोगों का नाता शनैः-शनैः छूटता गया जिसका परिणाम हुआ कि लोक-जीवन का ह्रास हुआ । लोक जीवन में सामाजिक जीवन विखंडित होने लगा । मानव मूल्य, प्रकृति, परम्परा, समय-काल-परिस्थिति के अनुसार बदलती रही, नयी पीढ़ी के लोग पुरानी पीढ़ी के लोगों से इस साहित्यिक अमूल्य धरोहर को बचा कर रख सकते हैं जैसा कि अब नए पीढ़ी के लोक साहित्य-संस्कृति प्रेमी के साथ-साथ, राज्य सरकारें और केन्द्र सरकार की संस्था 'भारतीय भाषा संस्था' मैसूर इस ओर तीव्र गति से सक्रिय है जिसका मैं स्वयं गवाह हूँ । संस्कृति एक भागीरथी प्रवाह होती है जो भूत से वर्तमान होते हुए भविष्य की ओर जाती है । शंभु अगेही की कविता पर मैं अपनी बात समाप्त करता हूँ-

चलो अविराम साथी रे, अभी तो दूर है मंजिल
न थक कर हार तुम बैठो, अभी तो और चलना है
दिए में तेल संचय कर, अभी तो और जलना है ।

संदर्भ-

1. साहित्य-अमृत, मासिक हिन्दी, दिल्ली में मालिनी-अवस्थी का आलेख 'संस्कृति का दर्पन है लोकगीत' पृ.-38, अगस्त, 2017
2. तमसीले नौ, त्रैमासिक उर्दू दरभंगा में डा. मंसुर उमर का आलेख, पृ.- 35, जुलाई-दिसम्बर, 2006
3. हिन्दुस्तान, दैनिक, हिन्दी, पटना में डा. उषा वर्मा का आलेख, पृ.-10, 21 अगस्त 1996
4. फारुकी, शादा, तजकरा-बनमे शोमाल, शेरिस्तान, नुरुल त्मन लेल, दरभंगा, 1984, पृ.- 25
5. दरभंगा जिला मैथिली लोक उत्सव स्मारिका-2014 में लेखक का आलेख 'समरसताक लोकनाट्य : झरनी' पृ.-
6. चेतना समिति, स्मारिका-2007 में फूलचन्द्र झा प्रवीण सका आलोख पृ.- 25
7. सिंह, डॉ. अणिमा, मैथिली लोक गीत, लोकसाहित्य परिषद, कलकत्ता- 1970
8. वही, चेतना समिति, स्मारिका-2007, पृ.- 26
9. मिथिला दर्शन, कोलकाता में डॉ. मंजर सुलैमान का आलेख, पृ.- 24-26
10. सिंह, अणिमा, वही, पृ.- 160-161

भोजपुरी लोकगीतों में वाद्य–यन्त्रों का अंकन

–डॉ० ज्योति सिन्हा*

लोकगीतों की विषेशता उसकी सामूहिकता, सरलता, सहजता एवं रसमयता में है, जो कृत्रिमता से परे होते हैं। संस्कारगीत, ऋतु गीत, व्रत पर्व के गीत, कृषि व श्रम के गीत, मेले के गीत आदि के रूप में आज भी लोक में यत्र–तत्र मिलते हैं।

लोक गीतों के विषय–वस्तु पर यदि हम ध्यान दें तो सहज ही ज्ञात होता है कि इन गीतों का विषय–वैविध्य अत्यन्त व्यापक है। विविध वर्गों–जातियों के कार्य–व्यवहार के साथ ही पारिवारिक रिश्तों की बानगी देखते ही बनती है। माता–पिता, भाई–बहन, पति–पत्नी, देवर–ननद, सास–जिठानी सभी आपसी रिश्तों की सुन्दरता, ह्रास परिहास, प्रेम, स्नेह आदि के माध्यम से देखने को मिलती है। इनके अतिरिक्त जीवनोपयोगी सभी वस्तुओं, व्यंजनों – खाद्य पदार्थों, आभूषणों, वस्त्रों, सौन्दर्य प्रसाधनों, भौगोलिक चित्रों यथा गांवों, नगरों, महानगरों के नाम, यातायात के साधनों, अन्य अनेक भौतिक संसाधनों का बड़ा व्यापक उल्लेख इन गीतों में मिलता है और सभी पक्ष शोध व अनुसंधान की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन समस्त विषयों के अतिरिक्त इन गीतों में वाद्य यन्त्रों का उल्लेख विशेष महत्वपूर्ण रूप से मिलता है। इन गीतों में अनेक वाद्य यन्त्रों के नामोल्लेख तथा विविध अवसरों पर इनके बजाये जाने का उल्लेख समाज की संगीतप्रियता को दर्शाता है। साथ ही लोक मानस को इन वाद्यों का ज्ञान होने का भी संकेत मिलता है। संगीतात्मकता, रसात्मकता व सरसता संगीत के वाद्यों के साथ सहज ही इन लोकगीतों की विशिष्टता को उजागर करती है तथा लोक मानस में विविध वाद्यों की उपस्थिति को दर्शाती है।

मुख्य शब्द : लोकगीत, भोजपुरी, वाद्य–यन्त्र, लोक–साहित्य, संस्कार, संस्कृति

लोक साहित्य लोक की वाणी है, जिसमें लोक का सुख–दुःख, हर्ष–विशाद, हास–परिहास और लोक की सम्पूर्ण अनुभूतियाँ इसमें व्यक्त रहती है। पूरे लोक साहित्य के स्वरूप को हम लोकगीत, लोकगाथा, लोककथा, लोकनाट्य, लोक सुभाशित, लोकोक्तियों, पहेलियों, खेल और बालगीतों में देख सकते हैं। इनकी परम्परा मौखिक रूप से सदैव लोक में रची–बसी रही है। लोक साहित्य के अन्तर्गत सम्पूर्ण लोक जीवन समाहित है। लोक साहित्य की पांच मुख्य विधाओं में यथा लोकगीत, लोक–गाथा, लोककथा, लोकनाट्य तथा लोक सुभाषित में लोक–गीतों का स्थान सर्वोपरि है अथवा सबसे समृद्ध है। लोक साहित्य की सभी विधाओं में पचास प्रतिशत लोकगीत ही है। लोकगीतों की अपनी स्वस्थ मौखिक परम्परा है जो पीढ़ियों के माध्यम से लोक में सुरक्षित है। लोकगीतों का उदय सुदीर्घ अतीत में सामाजिक चेतना, सुख–दुःख के अनुभव के साथ हुआ। श्री सूर्यकरण पारीक का कहना है– "आदिम मनुष्य–हृदय के गानों का नाम लोकगीत है। मानव जीवन की उसके उल्लास की, उसकी उमंगों की, उसकी करूणा की, उसके रूदन की, उसके समस्त सुख–दुःख की..... कहानी इनमें चित्रित है।"[1] रामनरेश त्रिपाठी जी ने भी लिखा है– "ग्राम गीत प्रकृति के उद्‌गार है। इनमें अलंकार नहीं रस होता है... छन्द नहीं केवल लय है...लालित्य नहीं केवल माधुर्य है"।[2]

शास्त्रीय सन्दर्भों पर ध्यान दें तो– गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते– अर्थात् गीत, वाद्य और नृत्य का समन्वित रूप ही संगीत कला है। जीवन के विविध मंगल अवसरों पर, मस्ती में लोक कलाकार अपनी धुन में गा उठते हैं। चाहे सन्तान जन्म का अवसर हो, विवाह का अवसर हो, ऋतुओं का प्रभाव हो, व्रत पर्व का अवसर हो, सावन व फागुन तथा चैती का उत्साह हो, या थक हार कर मन्दिर या चौपाल पर सायंकाल एकत्र होकर दिन भर की थकान दूर करने का अवसर हो, या कृषि कार्य करते हुए, अन्य श्रम करते हुए श्रम से स्वयं के

*प्रवक्ता, संगीत, एस.आर.आर.पी.जी. कॉलेज, जौनपुर

थकान का परिहार करना हो, लोक सभी में गा उठता है। इनकी संगत में बजाने वाले तथा नाचने वाले भी सहयोग देते हैं। संगीत में वाद्य यन्त्रों की भी आवश्यकता होती है। इनमें नगाड़ा, ताषा, मृदंग, तुरही, सिधा, पिपिहरी, वंषी, ढोलक, करताल, खजड़ी, चंग, टुनटुनिया आदि का प्रमुख स्थान है।

विभिन्न प्रदेशों के लोक संगीत वहां की क्षेत्रीय विशेषताओं से पूरित होते हैं। लोक वाद्यों के सम्बन्ध में भी यही देखने को मिलती है। हर प्रदेश का अपना कुछ विशेष वाद्य है जो वहां के गीतों में प्रयुक्त होते हैं। जैसे– बंगाल में 'बाउल' में एकतारा नामक वाद्य का प्रयोग, साथ ही खनक व गुपी भी वहां के वाद्य यन्त्र है, जो ढोलक से मिलता जुलता है, बिहार का छोटा नागपुर में संथाल लोग नगारे का प्रयोग, जिसे रस्सी से गले में लटकाकर भी बजाते हैं तथा वहां इसे 'मादर' कहते हैं, राजस्थान में विविध वाद्य बजाये जाते हैं एवं उत्तर प्रदेश तथा बिहार में भी ढोलक, खजड़ी, चंग, सारंगी, झांझ, करताल, कठसाल, जोड़ी आदि वाद्य प्रयेाग किये जाते हैं। बिलावल, काफी, खमाज, भैरव आदि थाटों के निमित्त अधिकांषतः गीत समीप के होते हैं। दादरा, कहरवा, जत ताल, दीपचन्दी तथा रूपक जैसे तालों की संरचना देखने को मिलती है।

लोकगीतों में सौन्दर्यात्मकता एवं रसानुभूति उसकी गेयता, ताल, लय, संयोजन से है। सामान्य से दिखने वाले वाद्य यन्त्र इन गीतों को सरस व ग्राह्य बना देते हैं। जहां वाद्य यन्त्रों की अनुपस्थिति रहती है, वहां भी लोक कलाकार थाप, चुटकी व ताली से गीतों की मधुरता व संगीतात्मकता को बढ़ा देते हैं और यही परम्परा आज भी निरन्तर प्रवाहमान है। इस प्रकार सामान्य जन जीवन द्वारा प्रयुक्त वाद्य यन्त्र इन गीतों की शोभा बढ़ाते हैं। ये समस्त वाद्य लोक जीवन में प्राप्त होने वाली वस्तुओं से ही निर्मित किये जाते हैं। लोकगीतों में वाद्यों का प्रयोग दो रूपों में मिलता है– सहकार वाद्य के रूप में तथा ताल रूप में। सारंगी, बांसुरी, बीन, तुरई, तम्बूरा, हरमुनियम, इकतारा, बंसी, मुरली, आदि अनेक वाद्यों का उल्लेख गायक के साथ सहकार वाद्य के रूप में मिलता है। वहीं ढप, झांझ, ढोलक, तबला, नगाड़ा, करताल, खजड़ी, मजीरा, डमरू, घटताली आदि वाद्यों का उल्लेख ताल वाद्य के रूप में मिलता है। ये सभी वाद्य स्वर की संगत करके ताल और ध्वनि रूपक का समाहार करते हैं। लोक में प्रचलित वाद्यों को लोक समाज स्वयं ही निर्मित कर लेता है। सभ्यता के विकास के साथ आज लोकगीत गायक आरकेस्ट्रा के माध्यम से अपनी गीतों की प्रस्तुति सजा सँवाकर नवीन वाद्यों के साथ कर रहे हैं। पैड, कैशियो, आर्गन, सिन्थेसाइजर जैसे अनेक वाद्यों की संगति लोक गायक कर रहे हैं। यद्यपि लोक लुभावन की दृष्टि से ये गीत भली ही लोगों पर अपना प्रभाव डालते हैं परन्तु लोकगीतों की सरलता, सहजता व सरसता का अमिट प्रभाव जहां लोक वाद्यों की संगति यथा ढोलक, मजीरा, मांझा आदि के साथ पड़ता है, वह अत्यन्त मोहक होता है और यहीं लोक गीतों का अनन्त सौन्दर्य है। जिसे किसी सजावट व श्रृंगार की आवश्यकता नहीं है। लोकगीतों को अधिक संप्रेषणीय तथा सरस बनाने के लिये ही लोक वाद्यों का प्रयोग होता है। भोजपुरी लोगीतों की विशेषता उसमें अन्तर्निहित विविध तत्त्वों से है।

अनेक वस्तुओं, नगरों, वस्त्रों, आभूषणों आदि के साथ संगीत के वाद्य यन्त्रों का उल्लेख भी भोजपुरी लोकगीतों में मिलता है। ढोलक, झांझ, मंजीरा, वीणा, खजड़ी, हरमुनिया एकतारा, शहनाई आदि वाद्यों का उल्लेख सहज ही मिलता है।

सोहर गीतों में संतान जन्म के अवसर पर खुशी में बाजा बजाने का उल्लेख मिलता है–

"मोरे पिछुवरवा बजनिया भइया बेगे चली आव हो,
कवन राम के भइले नन्दलाल बजनवा जाके बजाव हो–

एक सोहर में ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि रानी कौषिल्या राम को खेलने के लिये हिरन के खाल से खजड़ी मढ़वाने की बात करती है –

'जाहू हरीनी घर अपनेत, हम नाही मानब हो,
हिरनी खोलड़ी के खजड़ी मढ़इबो बाबुल के दुलारब हो–'

वीणा का उल्लेख भी –

"नारद गान सुनावे ल, बीणा बजावेल हो–"

श्री कृष्ण का जहां भी उल्लेख आता है, वहां

मुरली, बंसी का उल्लेख स्वतः ही आ जाता है। मुरली के बिना तो श्याम अधूरे हैं। एक सोहर गीत में तो ऐसा विस्मयजनक उल्लेख मिलता है, जहां तीन दिन के जन्में कन्हईया भी मुरली बजा रहे हैं –

"तीन ही दिन के कन्हईया त मुरली बजावेल हो"

एक सोहर में–

"सुन–सुन बबुआ बचन सुन, हमरो अरज सुन हो
बाबु धीरे–धीरे मुरली बजाव, गोतियवा जनी जानसु।"

तथा–

"अम्मा बिन्द्रावन में भइले चोरीहईया
बंसुड़िया मोरा चोरी गइले हो,"

एक सोहर में अयोध्या में नगाड़ा बजने का उल्लेख है–

"सुतल रहली अटरिया, सपन एक देखीला हो
सासु बारह जोड़ा नगाड़ा, अयोध्या में बाजेला हो....."

सोहर गीतों में संतान प्राप्ति के हर्ष में शहनाई बजाये जाने का उल्लेख मिलता है–

"घरी राति गइले पहरी राति, अवरी पछील राति हो,
ललना बाहर बाजेला सहनईया, होरीला जनम लेले हो।"

तथा नगाड़ा का उल्लेख भी –

"गोरी बाजे नगाड़ा दु जोड़ी
पहिला नगाड़ा अयोध्या में बाजे, राम लिये अवतार....."

अनेक सोहर गीतों में हर्ष के अवसर पर, संतान होने के अवसर पर 'बाजा' बजाये जाने का उल्लेख मिलता है। जिसमें यद्यपि वाद्य विशेष का नाम नहीं है परन्तु 'बाजा' बजना वाद्ययन्त्र का ही द्योतक है।

"एक बाजन बजेला नईहरवा" त दुसर ससुरवा न हो,
ललना तीसर बाजन बाजेला कचहरिया
त मनसा हमरे पुजी गइले हो....

तथा–

"बारह बाजन मोरा नइहर बाजे, सोरह ससुर बाजे हो।"

अनेक गीतों में हर्षादि अवसरों पर नाचने व गाने का उल्लेख मिलता है–है। एक सोहर में–

"गावत आवेले भटनीया, बजावत भटवा आवे हो,
नाचत आवे नउनीया, जहां रे मोरा आदर हो।"

अनेक गीतों में 'मंगल वाद्य' बजने का उल्लेख आनन्द के प्रतीक रूप में मिलता है। "बाजत वा बिमल बघईया, उठेला, नित मंगल हो", तथा–बाजे लागल अनघ बधावा, महलिया उठे सोहर हो" अर्थात् पुत्र अथवा सन्तान प्राप्ति के हर्षातिरेक में घर में मंगल वाद्य बज रहा है, मंगल ध्वनि गूंज रही है। पुत्र जन्म के आनन्दायक अवसर पर बाजा बजना, मंगल गीत गाना तथा नाच का होना प्रायः साधारण घटना है। कृष्णदेव उपाध्याय जी ने भी इस सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'भोजपुरी लोकगीत' भाग दो में पृ.सं.–16 पर लिखा है कि – "यह परम्परा बहुत प्राचीन जान पड़ती है। कालिदास ने रघु के जन्मोत्सव के समय का क्या ही सुन्दर वर्णन किया है–"

सुखश्रवा मंगलतूर्यनिस्वनाः, प्रमोदनृत्यैः सहवारियोशिताम्।
न केवलं सद्यनि मागधीपतेः पथि वयजृम्भन्त दिवौकसामपि।।[3]

खेलवना गीतों में संतान जन्म के अवसर पर देवर द्वारा बंसी बजाने का उल्लेख बारम्बार मिलता है–

"देवरा जे अइहें बंसी बजने के।"

तथा–

"जाई कहो ओही बारे देवर से, दुवरे प बंसीया बजावे होरील लाल भुईया लोटे....."

अन्य खेलवना में ढोलक–मंजीरा का वर्णन मिलता है–

"सखिया जे अईहे मंगल गवन के
बोलिह चलिह मत, उनके ढोलक धराय दीह।"

तथा–

"सखिया जे अईह मंगल गवन के
ढोल मजीरा उनके दे देबो जी....."

अधिकांशतः खेलवना गीतों में, विवाह गीतों में होरी गीतों में इस प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मिलता है। एक खेलवना में –

"नन्दलाल भये, मोरी खुसियन भइ अपार
बाजन लगे सहनाई–"

वही बाबा के ढोलक बजाने व बुआ के नाचने का उल्लेख, चाचा के हरमुनिया बजाने का उल्लेख भी खेलवना गीतों में मिलता है –

दुअरे से ससुर आव ढोलक बजावत आव,
ढोलक के ताल प नचाईब ननदो।
दुबरे से भसुर आव हरमुनिया बजावत आव,
हरमुनिया के सुर पर नचाईब ननदो।

खेलवना के एक गीत में –

"सरंगी पर सितार बाजे ताल ठोका द ए ननदो

तथा– "नाचत आवे ननदी, लाल के भये में...."

तथा –

"घर में से ननदी निकाल, दुवरवा नचाव न हो...."

तथा– सासु जे उठेली गावत, ननदी बजावत हो....

खेलवना जैसे गीतों की प्रमुख विशेषता होती है, रिश्तों का लगाव तथा हास–परिहास। सास, ननद, जिठानी, देवर आदि से प्रसूता स्त्री का हास–परिहास जहाँ रिश्तों में मधुरता लाती है, वहीं उन्हें पास ले आती है। ननद–देवर का नेग मांगना, सास–जिठानी की नसीहतें परिवार में हर्श के वातावरण को तथा मौके को सुन्दर बचता है। अतः इन गीतों में सास–ननद, ननद–भौजाई, देवर–भौजाई के बीच बड़ा ही सुन्दर संवाद मिलता है। नाच गाना स्वतः ही ऐसे अवसरों के महत्त्वपूर्ण पल होते हैं।

विवाह गीतों में अनेक वाद्यों के बजने का उल्लेख है। एक विवाह गीत में जनकपुर में सीता विवाह के अवसर पर वाद्य बजने का, बाजा बजने का उल्लेख है–

"अरे अरे बजनिया भईया बजना बजाव
निर्मल सबद सुनाव....."

तथा– "केकर बाजन बाजेला गहागह, केकर ऊँच नीसान

व "केकरा दुआरे बाबा बाजन बाजेला
केकर होखेला बियाह....."

तथा– "राम बियहन चलेल राजा दषरथ,
चार विधि के बाजन बजाई जी....."

तथा–

"ससुरू दुआरे भइल खाड़त, नवबत बाजन बाजेला..."

तथा– "राम के पतरी अंगुरिया त भिजेला महावर,
अहो राम जे चल सीता ब्याहन, नौबत बाजन बाजेला..."

तथा– "बाबा दुआरे बाजन बाजे त बजत सोहावन हो,
बाजत बाटे ए बेटी बाजे देहु, बजत सोहावन लागे,
हमरा तिलकवा के सोंच, बजन देखी डर लागे....."

तथा– "राम जे चलेल बियाह करे रिमझिम बाजन...."

तथा–

"ढोलवा लेले ढोलकिया हो लेले, डोलिया लेले कंहार..."
छतवा लेले कवन भईया हो बहीनी साथे जास.....।

तथा–

"बाजत आवेला ढोल मजीरा, हो टूटत आवे धनुष बान जी...।"

तथा –

"राजा जनक घरे नौबत बाजेला, अवधपुर में बाजेला बघाव,"

विवाह गीतों में विभिन्न वाद्यों यथा शहनाई नगाड़ा, ढोलक आदि के बजाये जाने का उल्लेख मिलता है। एक गीत में भगवान राम के बारात सजने के सन्दर्भ में अनेक वाद्यों के बजने का उल्लेख मिलता है। बिगुल, घण्टा, घुंघुर आदि।

"अरे जी राम चलेल दल साजी, जनकपुर ब्याहन,
बाजत आवे घण्टा घुघुर, उपर बाजा बाजे रे,
रथ चढ़ल रघुनाथ आवे, बिगुल बजाई के।"

विवाह संस्कार के समय सगुन उठाते समय ढोलक व इस वाद्य को बचाने वाले को सर्वप्रथम पूजा जाता है क्योंकि इसके बिना गीत गाने बजाने का आरम्भ नहीं होता। अतः इन गीतों में भी –

"अरे अरे चमरा, अरे अरे चमरा बजनवा लेई रे आव,
तोहरे बजनवा ए चमरा, होला रे बियाह....."

तथा मानर पूजते समय –

"कोहरा जे मनरा के गढ़ेला, चमरा जे मढ़ेला
कवन बाबा दुअरवा बाजन बाजेला
बजत सोहावन ....."

तथा मउरी पहनते समय के गीत में बारात निकलते समय–

"अगवा चलेल बाबुल बजना बजाई हो
पछवा चलेल सब लोग संसार हो ....."

भिरकुट गीतों में भी –

"सिव जे चलले बियाह करे, बारहो वजन बजाये.
बारहो बाजन सबद सहनईया....."

तथा – "जब सीरी रामचन्द्र चलले बियाहन
सोरह बाजन बजाये....."

तथा– "कवन नगरिया से अइले एक जोगिया,
आसन बिछावे जोगी घुईया रमावेला,
रहि रहि जोगिया, फूंकेला बघसिंघवा.....।"

सेहला, बन्दा गीतों में भी –

"सईया बजावे हरमुनिया मोटर के भीतर
प्यारे बजावे हरमुनिया मोटर के भीतर....."

तथा – "बन्दी के होखेला बिदईया त सहनईया बाजेला..."

देवी गीतों में – "छने मांगे सेनुरा हो छने मांगे तजवा कि
छने मांगे ना, मईया मांगे बारहो बजना....."

काली जी के एक गीत में –

"काली माई दुवरवा बाजन बाजे ।
अवरू सहनईया बाजे हो–"

छठ गीतों में भी –

"बजना बजइबो पचरंगिया, देखिह सहरिया के लोग..."

तथा– "आगे–आगे चलेली छठीय मईया",
"जहां बाजन एक बाजे....."

तथा–

"बजाव ना कवन पूत बंसुरिया, घटिया कर गुलजार...."

तथा–

"उनकर पूतवा कवन पूत बंसुरिया, मुखे मुरली बजाये,
मुरली के बोलिया सोहावन, लोगवा देखन जाये....."

तथा–

"एक पूत छठी मइया दीहतु, करती छठ अतवार
छठिया बरत आदित करती, दीहती बजना बजाये..."

तथा–

"कांच ही बांस के बंसुरिया, कृश्णा दीहले बजाये...."

शिव, जिन्हें संगीत का प्रवर्तक, नाट्य के प्रवर्तक, माना जाता है और नटराज कहा जाता है, उनके गीतों में गाने बजाने का उल्लेख स्वभावतः मिलता है–

"कईसे सिव नचब हो, कईसे सिव गईब
कइसे सिव डमरू बजईब ए महादेव–
खाड़ा होके नाचब, खाड़ा होके गाईब
खाड़ा होके डमरू बजाईब ए महादेव"

तथा–

"सिव जी के सजली बरात हो
दुबरे नाचे जोगिनिया, नाचे रे जोगिया।"

तथा– 'सिव के हाथे डुगडुगिया रे माई–

तथा– "हमरा ही देसे गउरा बजना ना होला
डमरू से होखेला बियाह रे ललनवा।'

तथा राम जी के भजन में भी –

"दशरथ जी के लाल रथ चढ़ी मुरली बजाव..."

तथा– "घंटी बाजत राम अइल अंगना"

तथा एक कृष्ण भजन में –

"बजईबो ए प्रभु जी मैं तोरे संग मुरली"

अन्य भजन में –

"बिरिजवा में बंसुड़ी बजेला घनघोर,
बंसुरी सबद सुनी राधा जे अइली....."

कजरी गीतों में भी, जो उल्लास, उमंग से भरा होता है, विभिन्न वाद्यों का उल्लेख मिलता है–

"ओही घनी बगिया में कवन बाजा बाजे हो रामा
हरी हरी तबला, सितारा, हरमुनिया सुनत नीक लागे रे हरी..."

तथा–

"बंसिया बाज रही रे कदम तर ठाढ़े सिव संकर भगवान..''

होरी गीत जो उत्साह उमंग व जोष से भरा होता है, गाने बजाने के सन्दर्भ में वाद्य यन्त्रों का उल्लेख भी इन गीतों में रहता है–

"ढपली बजावत गावत गोरी नाच रही रस रंग बोरी...."

तथा–

"कोई गोवत कोई मृदंग बजावत कोई नाचत गति मोरी... बंसी बजावत मन को लुभावत ऐसो मंत्र पढ़यो री...."

तथा–

"नारी बनाई नचाई छोड़िहो, डफ मृदंग की तालन पे..."

चैती गीतों में भी –

"डमरू बजावत नाचत ताथईया हो रामा

तथा– "मोहन रसिया बंसिया बजावे हो रामा....."

पीड़िया के एक गीत में बृजनारी बंसुरी के बजने का उल्लेख मिलता है–

"जाउ जाउ बहुवा हो राम रसोइया, जोगी के बाजेला बृज नारी बंसुड़िया, जोगी के बाजेला....."

तथा– "ससुर लाव चम्पा बाजा, भसुर लाव रेडियो, सईया हो लाव ना बृजनारी बसुड़िया....."

तथा– "बाजत आवे ढोल मजीरा देखु रे सखिया पिया के गमकत आवे हीपिया देखु रे सखिया"

बहुरा के एक गीत में एक जोगी द्वारा बंसी बजाने का उल्लेख मिलता है–

"मोरा पिछुवरवा ठूंठि पाकरि ए राम
राम ताहि चढ़ि जोगी बंषी बजावेला ए राम...।"

झुमर के एक गीत में 'छिपा' (थाली) तथा ढोलक का उल्लेख–

"छिपवा" बाजे त सासु बबुआ हो तोहार,
बनवारी हो 'ढोल' बाजे सईया हमार।

इस प्रकार अनेक वाद्यों का उल्लेख इन गीतों में मिलता है। विद्वानों का मानना है कि – "पुरुष भी गीत गाकर अपने हृदय के आनन्द को प्रगट करते हैं। खेत बोते निराते अथवा रहट हांकते, गाय अथवा भैंस चराते, पुरहा लेते अथवा रास्ता चलते समय वे भी गीत गाते हैं। काम करने वाला यंत्र ही इनके लिये लोकवाद्य है। जिसकी ध्वनि अथवा चाल के साथ ताल मिलाते हुये वे गीत गाते है। पुरुष वर्ग ने लोक वाद्यों की परिधि को बहुत विस्तृत कर दिया है। गाय चराते समय लाठी और पृथ्वी, पृथ्वी पर बैठकर गाते समय ताली, निराते समय खुरपी, अथवा फावड़ा अन्य कुछ नहीं तो ईंटों के दो टुकड़ों आपस में बजाना, गाड़ी हांकते समय गाड़ी के पहिये और बैलों के पैरों की ध्वनि, रहट के बाल्टियों की ध्वनि उसके लोकवाद्य हैं। जिनके साथ ताल देते हुये वह आनन्द से गाता है।" (लोक साहित्य, पृ.सं. 98, लोकप्रिय प्रकाशन)

आज निश्चित रूप से पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से लोगों के मनोरंजन में, संगीत वाद्यों में बड़ा अन्तर आ गया है। आर्केस्ट्रा और आधुनिक फिल्मों में जो वाद्य बजते हैं, वे हमारे वाद्य यन्त्रों से काफी भिन्न और संख्या में अधिक अवश्य हैं परन्तु उनको प्रेरणा मिली है, हमारे लोक वाद्यों से ही, उनकी उपस्थिति से ही और उनकी संगति से ही। लोकगीत लोक की अभिव्यक्ति है, लोक का स्वर है, जिसमें लोक का सहज व स्वाभाविक जीवन व्यक्त है। संगीत–नृत्य आदि कलायें आरम्भ से ही मानव के साथ जुड़ी हुई है। अतः विविध वाद्य–यन्त्रों का इनके साथ सहकार सहज रूप से रहा। समाज के साथ, सभ्यता के विकास में अनेक नये वाद्य यन्त्रों का विकास होता गया परन्तु आज भी वहीं सरल वाद्य संगति रूप देखे जाते हैं। अतः लोकगीतों में इन्हीं वाद्यों का उल्लेख बारम्बार हुआ है, जैसे शहनाई, ढोल, ढोलक, नगाड़ा, हरमुनिया, एकतारा, झांझ आदि। लोक संस्कृति का संरक्षण गीतों का संग्रहीकरण करके किया जा सकता है, जिसके लिए प्रयास की आवष्यकता है।

संदर्भ :

1. पारीक, सूर्यकरण, राजस्थान के लोकगीत (पूर्वार्द्ध) प्रस्तावना, पृ.सं. 1–2
2. त्रिपाठी, पं0 रामनरेश, कविता कौमुदी–भाग पांच, प्रस्तावना, पृ. 1–2
3. रघुवंष (3/19)

मैथिली लोकगीतों में चित्रित सीता का स्वरूप

-डॉ. ममता कुमारी (ठाकुर)*

मिथिला का कण-कण काव्यमय है । इसके लोक-जीवन में इस प्रकार रचा बसा है कि यह कहा जाता है कि मिथिला के लोक अपने प्रत्येक पत्र गीत के बोलकर उठाते हैं । सुबह उठते हैं गीत गाते हुए, रात में साते हैं गीत गाकर । उनकी दिनचर्या बँधी होती है गीतों के बोल से । वे अपने परिवेश से, पेशे से प्रकृति से, संवाद कायम करते हैं । गीतों के माध्यम से अपने सारे दुख-सुख, राग-द्वेष, हास-परिहास व्यक्त करते हैं, गीतों के रूप में सभी संस्कार, उत्सव, त्योहार, अनुष्ठान, कर्मकांड आदि सम्पन्न करते हैं । लोकगीत मिथिला के लोक जीवन का अभिन्न हिस्सा है तथा मिथिला में लोक जीवन, लोक संस्कृति का भव्य भवन खड़ा है । धार्मिक आस्था की सुदृढ़ नींव पर । समस्त मिथिला की संस्कृति सीतामय है । सीता जिनका जन्म मिथिला की धरती कोख से हुआ है । मैथिली लोकगीतों में अभिव्यक्त सीता के विविध स्वरूप, सीता के जीवन से सम्बन्धित विभिन्न घटना क्रम एवं सीता के स्वरूप का विवेचन है । लोकगीत अति सहज भाषा एवं भाव से परिपूर्ण एवं हृदय ग्राही होता है ।

मुख्य शब्द : मिथिला, मैथिली, लोकगीत, सीता, जगत् जननी

जगज्जननी भगवती सीता का प्राकट्य मिथिला के भूमि से सदेह हुआ । अत: भगवती सीता मैथिली के नाम से विख्यात है । महर्षि राजा विदेह के हलाकर्षण से भगवती सीता का प्रादुर्भाव हुआ । अत: राजर्षि विदेह भगवती सीता के जनक तथा सीता जानकी के नाम से प्रसिद्ध हुईं । सीता का नाम सुनते ही अनायास प्रतिव्रत धर्म से परिपूर्ण सुसंस्कृत नारी का मूर्तरूप दृष्टिगोचर होने लगता है । सीता को लोकजीवन के भाव में उतारकर एक आदर्श ग्रहण करना, मैथिली लोकगीत कर सामाजिकता का परिचायक है ।

वाल्मीकि कृत रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम एवं सती शिरोमणि सीता शिरोमणि सीता के लौकिक जीवन का विस्तरमय वर्णन है । सीतापति भगवान श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम थे । अत: उनकी धर्मपत्नी मर्यादा की प्राण थी । महाशक्ति मैथिली मिथिला के मिट्टी से प्रगट हुई इसीलिए मिथिलावासी पार्थिव देव पूजा को सर्वोपरि मानते हैं । मिथिला के घर-घर में मिट्टी से बनी भगवती (गोसाउनि) की स्थापना होती है एवं प्रतिदिन उनकी पूजा की जाती है । मैथिली लोकगीत में सीता के चरित्र का वर्णन अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

सीता के जन्म का एक मैथिली लोकगीत सोहर उस प्रकार है-

''सुन्दर मास बैसाख इजोरिया नवम तिथि हे, आहे ।
सिया अवतरण सोहाओन अति मनभावन हे ।
माटि केर सुगन्धि पसरल पुनैरा कहे धाम मे ।
प्रगटली मिथिलाक माहि सौ मैथिली जन प्राण में ।[1]

लोकगीत लोकआस्था का उपज और लोक व्यवहार से सम्बद्ध होता है । लोकगीत लोककंठ परम्परा से सदा जीवन्त रहता है । मैथिली लोकगीतों में सीता की प्रमुखता देखी जाती है, क्योंकि सतीशिरोमणि सीता से मिथिलावासी को आत्मीयता एवं भावनात्मकता का सम्बन्ध है । एक पारम्परिक गीत जो बेटी के विवाह के समय गाया जाता है । 'बेटी कुमारी' कहा जाता है, इस प्रकार है-

''सीता के सफल दिखि झकधि जनक ऋषि
आब सीता रहल कुमारि यौ ।[2]

महाकवि विद्यापति ने सीता का मार्मिक वर्णन इस गीत में किया है-

*अध्यक्ष, संगीत विभाग, एम.आर.एस.एम. कॉलेज, दरभंगा

''रे नरनाह सतत् भजु ताही,
ताहि नहि जमीन जनक नाहि जाहि''

महाकवि विद्यापति के बाद काशीकान्त मिश्र 'मधुप' मिथिला के सुप्रसिद्ध कवि एवं सीता के विवाह से सम्बन्धित उनकी एक रचना उस प्रकार है-

''सखि केल पिता प्रणभारी, मह रहल हूँ आब कुमारी
कुलिस कठोर कहाँ धनु, रघुबर कहाँ कञ्ज तनुधारी ।[3]

सीता शिव की उपासिका थीं तथा नित्य प्रति शिव के उस धनुष की आराधना करती थीं जिसे तोड़ने के शर्त पर उनके स्वयंवर की रचना की गई थी । सीता अपनी सखियों के संग नित्य गौरी पूजा करती थीं । यह प्रसंग रामचरित मानस के बालकाण्ड का है । माता पार्वती प्रसन्न होकर सीता को वरदान देती है-

''मनु जाहि राचेक भिलाहि सो वरु सहज सुन्दर सोवरो
करुणा निधान सुजानशीलू सनेह जानत रावारो ।''

सीता के सम्बन्ध में उस अनुश्रुति से अनुप्रणित मिथिला नारी अपने सम्पूर्ण वैवाहिक जीवन के लिए प्रतिदिन गौरी पूजा करती हैं । सीता द्वारा गौरी-पूजा का विधान और महात्म्य इस गीत द्वारा अभिव्यक्ति होता है-

''गौड़ी पूजू जानकी जनक भवन में
जनक भवन में श्री राम जी क संग में ।''

श्रीसीता राम विवाह से सम्बद्ध अनेक पारम्परिक गीत मिथिला में प्रचलित हैं, जिसमें रचयिता का नाम ज्ञात नहीं है जो लोकगीत की विशेषता है । आधुनिक काल में अनेकों विद्वान कवि हुए जैसे स्नेहलता, कलकलता, नेमलता पद्यलता, रामाकान्त शास्त्री, प्रभुनारायण झा 'प्रदीप', बॉकेबिहारी 'कैरील', काशीकान्त मिश्र, 'मधुप' नारायण दास 'भक्तशाली' आदि ।

श्री मैथिलीपुत्र 'प्रदीप' द्वारा रचित यह पद अत्यधिक प्रचलित है ''मिथिला के धिया, सिया जगत जननि भेलि, बनल सुरधाम हे ।''

श्री कपिलेश्वर ठाकुर 'स्नेहलता' के उस पद में मिलता है-

''अपना किशोरी जी के रहल बजेवइ हे हम मिथिले मे रहवई
सग-पात खोटि-खोटि दिवस गामायब
घरही में हमरा चारू धाम ।।[4]

सीताराम विवाह से सम्बन्धित प्रत्येक अवसर के अनेकों लोकगीत प्रचलित हैं । समदाउन जो बेटी के विदाई (द्विरागमन) काल में गाया जाता है । करुण वेदना का दृश्य उस गीत में दृष्टिगोचर होता है । उसमें भी सीता-जैसी बेटी की विदाई असहनीय मालूम पड़ती है-

'बड़ रे जतन सँ हम सिया धिया पोसलौं

सीता से सम्बन्धित संस्कार गीत के अतिरिक्त चौतावर, होली, बारहमासा, कजरी, मलार, झूमर, पावस संगीत, झूला, चौमासा आदि अनेकों लोकगीत मिथिला में प्रचलित हैं ।

अशोक वाटिका में सीता हनुमान सम्वाद सम्बन्धी लोकगीत लोकप्रिय विषयवस्तु रहे हैं । इस लोक गीत में सीता रावण के द्वारा दिए गए कष्ट और अपमान से श्री हनुमान जी को अवगत कराती हैं-

कानि-कानि कहथिन सीता सुनु हनुमान यौ
कोना क विसरी गेला मोरा भगवान यौ ।''[5]

मिथिला में नवविवाहित स्त्री के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण व्रत मधुश्रावणी व्रत मधुश्रावणी का होता है । मधुश्रवणी के उस गीत में सीता के मधुश्रवणी व्रत के आयोजन का भावपूर्ण चित्रण है-

''चलू सखी पूरै हकार जनकजी के आँगन में
आइ थिक मधुश्रवणी त्यौहार, जनकजी के आँगन में ।''[6]

मैथिली लोकगीतों में वटवृक्ष की पूजा का उल्लेख मिलता है । यह पूजा ज्येष्ठ की अमावस्या तिथि को होती है । उसे वटसावित्री (बरसाइत) पूजा कहा जाता है । उस पूजा में पतिव्रत धर्म सावित्री की भाँति गुण पूजा करनेवाली सुहागिनों को मिल जाए, इसलिए यह व्रत सुहागिनों द्वारा किया जाता है । यह गीत प्राचीन काल से महिलाएँ गाती आ रही हैं-

''घर घर नारि हकराज सजनी गे, आदर से संग गेलि
आइथिक बरसाइत सजनी गे, ते आकुल सब भेलि ।''

इस प्रकार, मैथिली लोकगीतों से यह स्पष्ट होता है कि मिथिला में प्रत्येक पर्व त्योहार, आयोजन धार्मिक अनुष्ठान, मौसम का स्मरण होता है । ऐसा लगता है कि मिथिला के जन-जन में, कण-कण में सीता का वास है तथा रस से सराबोर धरती पर लोकगीत में सीता-राम बारम्बार प्रगट होते है, कभी आत्मीय रूप में तो कभी परमात्मीय रूप में । सीता मिथिला की बेटी हैं । लोकगीत के लोक-हृदय में उछाह के साथ उत्पन्न होती है और लोकगीत के रूप में प्रकट होती हैं । अत: मैथिली लोकगीत में सीता के चरित्र का मोहक वर्णन अत्यन्त महत्व रखता है ।

संदर्भ ग्रन्थ-सूची

1. प्रदीप, श्री मैथिली पुत्र, श्री सीता अवतरण महाकाव्य, पृ.-42
2. पारम्परिक
3. मिश्र, काशीकान्त 'मधुप', चौक चुप्पे-22
4. ठाकुर, कपिलदेव, स्नेह लता वनिय पदावली संकीर्तन-14
5. सिंह, अणिमा, मैथिली लोक गीत-97
6. पारम्परिक

नाट्य-कला के विकास में लोकनाट्य का महत्त्व

-डॉ. कुमार विनय मोहन सिंह*

लोकनाटकों में रात-रात भर दर्शकों को बाँधे रखने की जो क्षमता है वह निश्चित ही संगीत, नृत्य और सामयिक कथा-प्रवाह के बूते पर संभव होती है । यही इन लोकनाट्य-रूपों की विशेषता भी है ।

आधुनिक नाट्यकारों में जिसने भी लोकनाट्य शैलियों को अपने अनुरूप अपनाया वह सफल नाटककार बन पाया ।

नाटकों में गीतों का प्रयोग तो प्रसाद ने भी किया है किन्तु उनके नाटक शास्त्रीय अधिक हो गये हैं । भारतेन्दु के नाटकों में प्रहसन शैली का सुंदर समावेश हुआ । उनके नाटक आज वर्षों बाद भी उतने ही सहज आकर्षण से भरपूर हैं ।

नाटककार अपने सिनेमा और नाटकों में दक्षिण भारत के प्रभावी संगीत का उपयोग इतनी खूबी से करते हैं कि वह मात्र एक प्रस्तुति भर न रहकर, जीवंत स्पंदन बन जाता है ।

मुख्य शब्द : नाट्य, लोक, गीत, लोक मंच, नाट्य-कला

वैदिक संस्कृत की कठिन भाषा लौकिक संस्कृत की सरलता की ओर बढ़ी और अनेक संस्कृत नाटकों की रचना हुई । नाटकों की लोकोन्मुखी प्रवृति इतनी बलवती थी कि कालिदास जैसे महान् सुसंस्कृत रचनाकार के नाटकों में भी पात्रों के अनुकूल भाषाओं का प्रयोग मिलता है । 'शाकुंतलम्' के धीवर 'अपभ्रंश' का प्रयोग करते हैं तो विदूषक 'सरल-संस्कृत' का । भाषा के इन प्रयोगों में लोक-रंजनकारी गुणों को साफ देखा जा सकता है ।

शूद्रक का 'मृच्छकटिकम्' नाटक एक प्रकार से संस्कृत युग का लोकनाटक ही है जिसमें चौर-कर्म की रसिकता के साथ-साथ राजा के साले के रूप में मूर्खता और भौंडेपन की सीमा को लाँघता 'हँसौड चरित्र' पूरे नाटक को अपेन इर्द-गिर्द बाँधे रखने में सफल हुआ है । 'मृच्छकटिकम्' की विशेषता उसके विषयगत भोलेपन में झलकती है ।

चीनी यात्री ह्वेन सांग ने अपने यात्रा-वृतान्त में सिंहक द्वीप-यात्रा का वर्णन के अवसर पर लगभग 500 जातक कथाओं के नाट्य-प्रहसनयुक्त जुलूस का वर्णन किया है । जातक कथाएँ बौद्ध-धर्म-आदर्शों का लोक व्यापी लोक कथाकरण है ।

भारत के विभिन्न क्षेत्रों में लोक साहित्य एवं लोक कला की व्यापक पड़ताल की जाये तो यह निश्चित किया जा सकता है कि प्राय: प्रत्येक क्षेत्र में संस्कृत काल से प्रारंभ नाट्य रूप स्थानीय परिवर्तित भाषा-संस्कृति एवं परिवेश के अनुरूप बदलती हुई भी आज तक जारी है । कहा भी गाया है-

'अवस्था विशेष के अनुकरण को 'नाट्य' कहते हैं । देखे जाने के कारण इसे 'रूप' कहते हैं । उस (रूप) के आरोपण के कारण इसे 'रूपक' कहा जाता है, जो रस का आश्रय लेकर दस प्रकार का होता है-

अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम् ।।'[1]

केरल का 'कथकली' नृत्य हो या आन्ध्र का 'यक्षगान' । उड़ीसा का 'गोटिपुअ' (ओडिसी नृत्य का आदिरूप) या 'छऊ' नृत्य और उत्तर भारत का 'कत्थक'-सभी किसी-न-किसी लोकशैली के शास्त्रीय स्वरूप हैं ।

एक ओर कुछ लोकरूपों ने शास्त्रीयता में अपने को परिष्कृत किया तो दूसरी ओर सहज ही लोकमंच का समानान्तर विकास भी होता चला गया ।

उड़ीसा और बंगाल में 'जात्रा', पश्चिमी भारत के मालवा में 'माच' और 'भरथरी', गुजरात में 'भवई', राजस्थान में 'फड़' गायन, छत्तीसगढ़ में 'पंडवानी', बंगाल में 'बाऊल', उत्तर भारत में 'रासलीला' और 'रामलीला', नौटंकी तथा दक्षिण भारत में लोकगायन एवं लोकनृत्यों के

*तबला वादक एवं संस्थापक सदस्य, शिवम् सांस्कृतिक मंच, छपरा

माध्यम से मंच जीवित बना रहा ।

लोकनाट्य मंच का एक अन्य रूप पुतली-नाटक भी है जो राजस्थान में लकड़ी की पुतलियों के माध्यम से विश्वविख्यात बना । तमिलनाडु की 'छाया पुतलियों' का प्रभाव भी कम नहीं है । इन पुतली-खेलों के माध्यम से जन-सामान्य का न केवल मनोरंजन ही होता है अपितु अनेक कथा-कहानियों का सुन्दर नाट्य-रूपान्तरण भी इनके द्वारा प्रस्तुत किया जाता है ।

बड़े आश्चर्यजनक रूप से यूनान में ठीक भारतीय तमिलनाडु की छाया पुतलियों की तरह 'काराग्योजी' नामक प्रमुख पात्र के साथ छाया पुतलियों के खेलों का खूब प्रचलन है । दोनों ही स्थानों पर ये पुतलियाँ मुख्य रूप से चमड़े से बनाई जाती हैं । भारत में जो कथाएँ कही जाती हैं वे प्राय: रामायण-महाभारत पर आधारित होती हैं जबकि ग्रीक कथाओं का स्वरूप जहाज के यात्री एवं उनके कारनामों पर आधारित होता है । भिन्न-भिन्न प्रान्तों में पौराणिक कथा-वाचन की जो भिन्न-भिन्न शैलियाँ प्रचलित हैं, वे भी लोकनाट्य रूपों के प्रकार हैं, जिनमें संगीत, कथा और अभिनय तीनों का सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है ।

वस्तुत: लोकनाट्य-परंपरा में अभिनय के साथ-साथ कथा और संगीत का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान होता है, इसलिए सभी लोकनाट्य रूपों में इन तीन तत्वों का भरपूर उपयोग सहज देखा जा सकता है ।

लोकनाट्यों में मनोरंजन के लिए द्विअर्थी शब्दों और वाक्यों का तथा फूहड़, हास्य का भी खूब उपयोग होता है । यह परंपरा ग्रीस के नाटकों में भी देखी जा सकती है, जहाँ मूलत: त्रासदी नाटकों का प्रचलन है । भारत में महाराष्ट्र के 'लावणी' में, उत्तर भारत की 'नौअंकी' में यह खूब पनपा है ।

हबीब तनवीर तो छत्तीसगढ़ की भाषा सहित छत्तीसगढ़ का लोकसंगीत, लोककथा, लोकगीत सब कुछ जस-का-तस अपनाकर ही स्थापित नाट्यकार बने हैं ।

मध्यप्रदेश की नाट्य-संस्था 'लिटिल बैले ट्रुप' के नाटक कठपुतली शैली से प्रभावित होने के कारण अपना अलग अस्तित्व और भिन्न महत्व रखते हैं ।

बहुत से नाट्यकार 'छऊ' नाट्य-शैली से प्रभावित होकर मुखौटों का प्रयोग करते हैं और उनके माध्यम से प्रभावी प्रस्तुति देते हैं ।

मराठी नाटकों में द्विअर्थी कथोपकथन का खूब चलन है । मोहन राकेश 'आषाढ़ का एक दिन' जैसे संस्कृत नाटक लिखने वाले नाटककार ने 'छतरिया' नाटक में गालियों का खुलकर और भरपूर उपयोग किया है । लक्ष्मी नारायण के नाटकों में लोककथाओं के नवीन प्रयोगों को संजीदगी के साथ देखा जा सकता है । 'लोकगीत के सशक्त प्रयोग में लक्ष्मी नारायण लाल सिद्धहस्त रहे हैं । लोक गीत उनके लिए प्रेक्षक में रागात्मकता का संचार करने का साधन भर नहीं, प्रसंग से जुड़कर वह अर्थ की दृष्टि से गम्भीर और सटीक बन जाता है ।'

वर्तमान समय में नुक्कड़ नाटक के रूप में बहु-प्रचलित नवीन नाट्य-विधा वस्तुत: भारत के अनेक प्रान्तों के स्थानीय नाट्य-प्रस्तुतियों का सर्वथा नवीन रूप है ।

नाटकों में आज प्रयोगधर्मिता के नाम पर दर्शकों के बीच से पात्र का प्रकट होना या दर्शकों को कुछ क्षण के लिए नाटक का पात्र बना लेना- वस्तुत: ये 'जात्रा' में खूब होता रहा है । परछाइयों का मंच पर प्रयोग छाया पुतलियों' के खेलों का प्रयोग है ।

भारतेन्दु के समय प्रचलित पारसी थियेटरों के प्रभाव में भारत के रंगमंच पर भारी-भरकम मंच-सज्जा का जो प्रचलन प्रारंभ हुआ था वह मूलत: भारतीय नाट्य-परंपरा के बहुत अनुरूप नहीं था, अत: वह आधुनिक युग तक आते-आते नवीन प्रयोगों के नाम पर स्वत: तिरोहित होता चला गया ।

निश्चित ही आज के समय में संपूर्ण भारत में मंचीय नाट्य-प्रस्तुतियों का जो स्वरूप है, वह पूर्णतया भारतीय लोकनाट्य परंपराओं का ही विकसित रूप है, जिस पर हमें गर्व है ।

सन्दर्भ :-

1. आचार्य धनञ्जय, उद्धृत- दाधीच, डॉ. पुरु, नाट्य का स्वरूप, संगीत, जनवरी, 2016, पृ.- 9
2. प्रेमलता, डॉ., डॉ. लाल के नाटकों में लोकगीत विधान, छायानट, अंक-45, उ.प्र. संगीत नाटक अकादमी, पृ.- 58

ललित–निबंध साहित्य में लोकदेवता एवं संबंधित विधि–विधानों का चित्रण

–डॉ. गजेन्द्र भारद्वाज*

प्रकृति को देवतुल्य मानते हुए उससे जुड़े लोकमांगलिक प्रतीकों को लोकदेवी–देवता मानने की परंपरा आदिम युग से ही भारत के विभिन्न समुदायों में लोक–संस्कृति के रूप में आदिकाल से ही विद्यमान रही है। लोकदेवता की अवधारणा में पराशक्तिपरक उन देवी–देवताओं के प्रति आस्था और विश्वास व्यक्त किया जाता है जिनके बारे में मान्यता हो कि वे समाज या व्यक्ति को सकारात्मक या नकारात्मक रूप से प्रभावित करने में सक्षम हैं। इन लोकदेवी–देवताओं का अस्तित्व अनंतकाल से हमारे जीवन में अत्यंत गहराई के साथ प्रविष्टित हैं जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी प्रचलित होने के कारण परंपरा के रूप में हमारे समाज में गहरे तक स्थान बनाये हुए हैं। स्थान, समाज, पर्व त्यौहार, मान्यता आदि के अनुसार इन लोकदेवताओं और उनसे संबंधित मान्यताओं में भिन्नता पायी जाती है। इन लोक–देवताओं का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। इन्हें किसी–न–किसी प्रतीक के माध्यम से स्थापित किया जाता हैं कभी यह प्रतीक कोई चबूतरा हो सकता है कभी कोई मंदिर, पेड़, पशु–पक्षी, घर की दीवार, पत्थर कुछ भी। प्रतीक के माध्यम से इन देवी–देवताओं को चिन्हित करना– यह अभिव्यक्ति की बहुत पुरानी परंपरा रही है। जनसमुदाय अपने सुख–दुःख के अवसरों पर प्रार्थना–कामना या पूजा–पाठ या धन्यवादज्ञापन के लिए लोकदेवताओं के पास जाया करते हैं। बलि, मान–मनौती, कथा–पूजन, ग्रह–शांति आदि प्रथाएँ उनके कोप या प्रसन्नता की मान्यता को लेकर उसके शमन और निराकरण के लिए पूजा–पाठ, मान–मनौनी, बलि–चढ़ावा हेतु इन लोकदेवताओं को समय–समय पर भेंट आदि प्रदान की जाती है।

मुख्य शब्द : साहित्य, ललित निबन्ध, लोकदेवता, विधि–विधान, आस्था जन–जाति

हिन्दी के ललित–निबंध साहित्य में ऐसे अनेक ललित–निबंधकार हैं जिनके ललित–निबंधों में इन लोकदेवी–देवताओं संबंधित अनेकानेक लोकगीतों, लोकगाथाओं, लोककथाओं, लोकविश्वासों, लोकपर्वोत्सव–त्यौहारों, लोकमान्यताओं, रीतिरिवाजों आदि का चित्रण मिलता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के संग्रह 'अलोकपर्व', पं. रामनारायण उपाध्याय के 'जनम–जनम के फेरे', आचार्य विद्यानिवास मिश्र के 'गाँव का मन', 'प्रात तब द्वार पर', डॉ. मालती शर्मा के 'बागड़ों से उखड़े बबूल' एवं 'सों...फिर भादो गरजी...', डॉ. कुबेरनाथ राय के 'त्रेता का वृहत्साम', डॉ. श्रीराम परिहार के 'हंसा कहो पुरातन बात', डॉ. संतराम देशवाल के 'लोकआलोक', डॉ. राहुल मिश्र के 'दसकंधर का अट्टहास', डॉ जयप्रकाश मानस के 'दोपहर में गाँव', डॉ. विश्वनाथ प्रसाद के 'चौरे का दीया' ऐसे ही ललित–निबंध संग्रह हैं जिनमें विभिन्न लोकदेवी–देवताओं से संबंधित अनेक संदर्भ मिल जाते हैं। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य हिन्दी के ललित–निबंधों में संदर्भित ऐसे ही लोकदेवी–देवताओं के चित्रण पर प्रकाश डालना है जो आज भी समाज में विभिन्न रूपों में विभिन्न मान्यताओं और भिन्न पूजा–विधिविधानों के साथ आस्था का केन्द्र हैं।

उपलब्ध शोध समग्री– विभिन्न ललित–निबंध संग्रह 'अलोकपर्व', 'जनम–जनम के फेरे', 'गाँव का मन', 'प्रात तब द्वार पर', 'बागड़ों से उखड़े बबूल' एवं 'सों... फिर भादों गरजी...', 'त्रेता का वृहत्साम', 'हंसा कहो पुरातन बात', 'लोकआलोक', 'दोपहर में गाँव', 'चौरे का दीया', 'दसकंधर का अट्टहास', विभिन्न पत्र–पत्रिकाएँ एवं शोध–ग्रंथ आदि।

शोध–प्रविधि– प्रस्तुत शोध–पत्र लेखन के लिए तथ्याख्यानपरक विश्लेषणात्मक शोधपद्धति का प्रयोग किया गया है।

*सहायक प्राचार्य, हिन्दी, सी.एम.बी. कॉलेज, घोघरडीहा, मधुबनी

विमर्श– ईश्वर और धर्म की अवधारणा आदिम जातियों की मान्यताओं, विश्वासों, पुराकथाओं, किस्सों–कहानियों और मिथकों से होती हुई ग्रामीण और पारंपरिक समाजों और फिर सभ्य समाज से होती हुई लोक–देवताओं के रूप में स्थापित होती हुई आज भी भारतीय समाज में जीवंत देखी जा सकती है। जनमानस आज भी यह मानता है कि यदि ये लोकदेवता प्रसन्न हों तो घर में खुशहाली रहती है और रुष्ट हों तो प्रकोप करते हैं जिससे आपदाएँ आती हैं। ये धर्म–संबंधी, समाज संबंधी और समुदाय लोकविश्वास इन लोकदेवताओं की प्रतिष्ठा में सहायक होते हैं। इन देवी–देवताओं की सिद्धि, भूत–प्रेत, डायन–चुड़ैल, यक्ष–गंधर्व, योगिनी–डाकिनी खब्बीस–पलीत आदि की साधना, तंत्र–मंत्र, शकुनोपशकुन, पशु–पक्षियों की बलि, पेड़–पहाड़ों की पूजा, थानों–चौकियों, गदि्दयों–मजारों की स्थापना तथा विभिन्न टोना–टोटका–दिनाई–नजरबंदी आदि इन लोकदेवी–देवताओं–संबंधी लोकविश्वास में सम्मिलित अवधारणायें ही हैं। लोकसंस्कृति के अध्येता डॉ. परशुराम शुक्ल 'विरही' लिखते हैं कि ''असुरक्षा की भावना, अज्ञान और अंधविश्वास के कारण लोक में जिन स्थानीय देवों की पूजा होती है वे लोक–देवता कहलाते हैं। लोक–देवताओं में कोई स्थान विशेष से, कोई आपदा या घटना विशेष से, कोई स्वास्थ्य विशेष से, कोई व्यवसाय से संबंधित होता है। किवदंतियों और मिथकों में उनके चमत्कारों का बखान किया जाता है। इनसे भिन्न किसी क्षेत्र–विशेष में कोई व्यक्ति अपने उज्जवल चरित्र, त्याग, जनसेवा, और बलिदान के कारण देवता की तरह पूजा जाता है तो वह भी लोक–देवताओं में गिना जाता है। जैसे–निमाड़ में संत सिंगाजी, बुंदेलखंड में हरदौल, राजस्थान में तेजा जी आदि। ये लोक देवता सदियों से लोकविश्वास और श्रद्धा के आश्रय बने हुए हैं और लोग इनकी मनौतियाँ मानते हैं। प्रत्येक अँचल के अपने लोक–देवता होते हैं।''[1]

लोकदेवता कहलाते हैं जो पापनाशक, बीमारी उत्पन्न करने वाले, बीमारीनाशक, अनिष्टकारक, धन–धान्य प्रदायक, स्वास्थ्य लाभ प्रदायक, संकटहर्ता, रक्षक, ग्रामदेवता, सीमांत देवता, नदी–पर्वत–पहाड़ी आदि के देवता, स्वर्ग–नरक के देवता, कुलदेवी–देवता, प्रकृति के देवता, घर के देवता आदि के रूप में पूजे जाते हैं और अलग–अलग स्थानों में वास करते हैं। इन लोक–देवताओं का कोई निश्चित स्वरूप नहीं होता। इन्हें किसी–न–किसी प्रतीक के माध्यम से स्थापित किया जाता हैं । कभी यह प्रतीक कोई चबूतरा हो सकता है । कभी कोई मंदिर, पेड़ पशु–पक्षी, घर की दीवार, पत्थर कुछ भी फिर भी प्रतीक के माध्यम से इन देवी–देवताओं को चिन्हित करना अभिव्यक्ति की बहुत पुरानी परंपरा रही है। डॉ. श्यामाचरण दुबे लिखते हैं कि ''लोक में दो तरह के देवताओं के स्वरूप मिलते हैं– एक पारंपरिक प्रतिष्ठित देवी–देवता जैसे– उषा, अग्नि, इन्द्र, विष्णु आदि जिन्हें वैदिक देवी–देवता भी कहा जाता है और, दूसरे स्थानीय देवता, जैसे– शिव, काली, दुर्गा, हनुमान आदि। पारंपरिक देवी–देवताओं के प्रति व्यापक गहरी आस्था का मिलना स्वाभाविक है क्योंकि उनके मिथकीय स्वरूप मानव के मस्तिष्क में पुरातन परंपरा से स्पष्ट होते हैं, लेकिन स्थानीय देवी–देवताओं की आँचलिक मान्यताएँ होती हैं और उनका प्रभाव भी सीमित होता है।''[2] जनसमुदाय अपने सुख–दुःख के अवसरों पर प्रार्थना–कामना या पूजा–पाठ या धन्यवादज्ञापन के लिए लोकदेवताओं के पास जाया करता है। बलि, मान–मनौती, कथा–पूजन, ग्रह–शांति आदि प्रथाएँ उनके कोप या प्रसन्नता की मान्यता को लेकर उसके शमन और निराकरण के लिए पूजा–पाठ, मान–मनौती, बलि–चढ़ावा हेतु इन लोकदेवताओं को समय–समय पर भेंट आदि प्रदान की जाती है। ''इन लोक देवताओं के प्रतिनिधि गाँव के ओझा, गुनिया, बड़वा, पड़ियार और रजाल्या या सेवक होते हैं जो देव की तरफ से भाव विशेष की व्याख्या और कठिन स्थिति में देव–आज्ञा देते हैं। जन इनकी बातों पर सहज–सामूहिक विश्वास करते हैं। लोक–देवताओं से जुड़ी धार्मिक क्रियाओं की जो सृष्टि होती है वहाँ धर्म से कुछ अलग जादू, मंत्र–तंत्र की सर्जना हो जाती है।

आदिम और लोक जन जादू–टोना, तंत्र–मंत्र, झाड़–फूँक पर स्वाभाविक विश्वास करता है इनमें भी लोक–देवताओं की उपस्थिति होती है। डॉ कृष्णदेव उपाध्याय मानते हैं कि ''लोक–देवता लोक–संस्कृति के पोषक हैं। स्त्रियों के द्वारा शीतला माता, छठी माता, गंगा माता, तुलसी माता आदि की प्रार्थना की जाती है । इसके अतिरिक्त जब बच्चा या घर का कोई व्यक्ति रोग–विशेष से पीड़ित होता है तब किसी विशेष देवता की मनौती मानी जाती है। दुष्ट ग्रहों की पूजा की जाती है। यहाँ तक कि भूत–दूत और प्रेत–पिशाच भी पूजा का भाग प्राप्त करते हैं।''[3]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कभी कंदर्प देवता, कभी मदन–देवता तो कभी गंधर्व देवता के रूप में प्रकृति की आराधना किये जाने का चित्रण अपने 'अलोकपर्व' नामक ललित–निबंध संग्रह में किया है । इसी प्रकार, लोकदेवता के रूप में 'गोवर्धन' की स्थापना के संबंध में निमाड़ी लोकसाहित्य व संस्कृति के अध्येता पं. रामनारायण उपाध्याय अपने ललित–निबधं 'जनम–जनम के फेरे' में कहते हैं– ''कृष्ण पहले आदमी थे जिन्होंने गाँव के गोरस और अन्न, धन रूपी लक्ष्मी को शहर जाने से रोका। कृष्ण के द्वारा दूसरा महत्वपूर्ण काम यह किया गया कि उन्होंने वैदिक देवता 'इन्द्र' की जगह लोकदेवता 'गोवर्धन' की पूजा आरंभ कराई। उन्होंने कहा कि इन्द्र न तो यज्ञ करने वाले ऋषि हैं और न ही खेती करने वाले कृषक फिर हमारा इन्द्र से क्या संबंध? इन्द्र की पूजा तो वे करें, जिनके जीवन निर्वाह का साधन यज्ञ अथवा कृषि हो। हम तो गोवंश का पालन–पोषण करने वाले ग्वाले हैं और वनों तथा पर्वतों की सुरक्षा में ही गौवंश की वृद्धि निहित है। अतएव हमारा सच्चा आराध्य तो 'गावर्धन' जिससे गोवंश की वृद्धि हो वह पर्वत है। लोगों को उनकी बात पटी और इस तरह देवराज की जगह लोकदेवता की प्रतिष्ठा करने का श्रेय भी कृष्ण को है।''[4] आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने अपने ललित–निबंध 'गाँव का मन' में ग्राम पूजित भोलेबाबा शिव की आराधना के लिए प्रकृति को महत्वपूर्ण माना है। वे मानते हैं कि मिट्टी के लौंदे से बन जाने वाले शिव प्रकृति प्रतीकों चंद्रमा, बैल, गंगा, रुद्राक्ष, आदि से गहरा संबंध रखते हैं जो बेल के पत्ते और मदार या धतूरे के फल–फूल मिल गए, एक लोटा जल से पूजन करके उनकी उन्हें पीपल के पेड़ के नीचे रख आने भर से वे प्रसन्न हो जाते हैं। डॉ. संतराम देशवाल भी लिखते हैं कि ये अपने नाम के अनुरूप ''इतने औढ़रदानी हैं कि दो–चार बेल पत्तों से ही खुश होकर याचक को निहाल कर देते हैं। वे तो इतने भोले हैं, इतने सहज हैं, कि आक–धतूरे से भी प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसे भोले–भंडारी ऐसे भोले–नाथ की शरण में जाने की सलाह दी है कवि ने–

'शंकर पायनि लगो रे मन!
थोड़ी ही बातनि सिद्धि सुहाई,
आक धतूरे के फूल चढ़ाए ते,
रीझत हैं तिहुँ लोक के साईं।'[5]

डॉ. मालती शर्मा 'बागड़ों से उखड़े बबूल' में लोकदेवता के रूप में प्रथमवंदनीय गणेश का चित्रण करते हुए लिखती हैं कि बबूलवनों में बसे गणेश बबूल–कंटक के माध्यम से विघ्नों, अड़चनों, दुःख–दर्द के काँटों की चुभन को हर लेते हैं। वे अपने ललित–निबंध 'सों...फिर भादों गरजी...' में लोकलक्ष्मी के रूप में संपन्नता की देवी लक्ष्मी संबंधी सामाजिक मान्यताओं का उल्लेख भी करती हैं और मयार्दापुरुषोत्तम राम से संबंधित लोक मान्यताओं के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखती हैं कि लोकजीवन राम सीतामय है। ये राम लोकजीवन के आशा, विश्वास, श्वास, निश्वास हैं। दुःख–दर्द पीड़ा में, मार में, भार में आह–कराह हैं, हर्ष–उल्लास में जयघोष हैं, उच्छ्वास हैं। बर्फ से ठंडे पानी में जब भक्त गोता लगाता है, धोबी कपड़े धोता है तो ब्रह्मा को याद नहीं करता 'छिओ राम छिओ' कहता है। किसान हल चलाता है, सिंचाई की मोट लेता है तो 'आये राम आये' कहता है। सभ्य कहे जाने वाले लोगों के मुँह से भी पीड़ा में, कष्ट में 'ओ माई गॉड' के ऊपर 'अरे राम रे', 'ओ राम' ही निकलता है। भारतीय लोक जीवन के लिये ये राम, इनका नाम संजीवनी है। वह

अपने वृक्षों, अन्न के दानों को, नदियों, पहाड़ों, नालों को, पुर, नगर, गाँवों को राम के नाम से पुकारता है। रामनाम के लड्डू, रामदाना खाकर जीता है अपने घर, झोंपड़ियों के छानी छप्पर को 'रामबाँस' पर टिकाता है, उत्तरांचल का रामबाँस जैसे राम का ही प्रतिरूप है। सीता सरसों की कतारें उसे खेतों का, जंगलों का रास्ता दिखाती है। ये राम सिर्फ अयोध्यावासी नहीं, विश्वव्यापी हैं।''[6]

डॉ. कुबेरनाथ राय ने उत्तर भारत की असमिया संस्कृति और बंगला–संस्कृति के गहन अध्ययन के पश्चात् उनकी लोक–संस्कृति के विभिन्न तत्वों को अपनी गवेषणात्मक दृष्टि से देखते हुए आदिम लोकपर्वों में पूजित नवनिधियों की अधिष्ठात्री कालकर्णी और ऋद्धियों के दाता सिरी देवता के साथ निषादों और किरातों के लोकदवेता यक्ष और गंधर्व आदि अशुभ और शुभ, दोनों प्रकार की लोकदेवताओं और देवियों का उल्लेख किया है। इसी प्रकार 'त्रेता का वृहत्साम' में 'श्याम' नामक महीरुहयक्ष के रूप में एक लोकायत देवता का उल्लेख किया है जिनके देवस्थान पर कुछ 'अलौकिक दिखायी या सुनायी पड़ जाय, तो उसके बारे में मौन रह जाने का विधान है। डॉ. कुबेरनाथ राय मिर्जापुर के विंध्याचल कस्बे की एक जनबस्ती के वनवासियों और मुसहर नारियों में प्रचलित एक देवी–गीत का उल्लेख करते हुए लोकदेवी के प्रति जन–आस्था का एक चित्र उकेरते हुए लिखते हैं–

''देवी लेहली बसेरवा बेइलिया तरवां ना।
गर्भे का मातल आवेले मालिन
बिटिया रोवे अंसुआ अठधार
बेइलिया तरवां ना।
काहे नांई देहलीरे फुलवा क हार
बेइलिया तरवां ना।
काहे नांई देहली तू लौंग क धार
बेइलिया तरवां ना।
देवी लेहली बसेरवा बेइलिया तरवां ना।

अर्थात् देवी ने बेले के कुंज के नीचे वास ले लिया है। प्रोषित पतिका मालिन कन्या गर्भवती है, वह अष्टधारा आँसू रो रही है, गोया उसकी आँखों से सप्तसिंधु और समुद्र साथ–साथ प्रवाहित हो रहे हैं। ओ री मालिन बिटिया, तूने देवी को बेले के कुंज के नीचे पुष्पहार क्यों नहीं अर्पित किया? तूने देवीथान पर लौंग–गुड़ की 'धार' क्यों नहीं अर्पित की? इस प्रकार गीत पग प्रति पग आगे मादा हंस की तरह परिक्रमा करता चल रहा है और प्रत्येक पग में शब्दावली वही रह जाती है केवल 'मालिन बिटिया' की जगह पर किसी अन्य वर्ण की बिटिया आ जाती है। लोकगीतों का आंतरिक ढाँचा कुछ ऐसा लचीला रहता ही है कि उसे विभिन्न संदर्भों में फिर अँटा लिया जाए या बिना किसी प्रयास के विभिन्न संदर्भ उसमें अंतर्युक्त होते चलें, साथ ही मूल शब्दावली का तीन चौथाई से ज्यादा ज्यों–का–त्यों रह जाये। –मिर्जापुर जिले के कस्बे विंध्याचल की एक जनबस्ती की गली में जिसमें होकर वनवासियों और मुसहर–नारियों का एक दल मंदिर–पथ में प्रवेश कर रहा है।''[7] आदिम जनजातियाँ प्राकृतिक शक्तियों या प्रतीकों की उपासक रही हैं इसीलिए उन्होंने इन्हीं प्रकृति–शक्तियों को अपने देवी–देवता के रूप में पूजना प्रारंभ किया। जिस परम् तत्व को हम ब्रह्म कहते हैं उसे वे अपनी दैवीय शक्ति मानकर 'बरम' कहते थे जिसके संबंध में डॉ. कुबेरनाथ राय जी अपना मत व्यक्त करते हुए कहते हैं– ''आदिम यक्षोपासना का 'बरम' शब्द जो आज भी आदिम उपदेवताओं के लिए लोक भाषा में चलता है। 'ब्रह्म' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृह' धातु से बताई जाती है अवश्य परंतु इस संज्ञा की मूलप्रेरणा का स्त्रोत लोकधर्म और आर्येत्तर भाषा ही जान पड़ती है।''[8]

मध्यप्रदेश जनजातियों की बहुलता के लिए प्रसिद्ध है । यहाँ की पाँच प्रमुख में बैगा अपनी बैगानी–बोली और बैगानी–संस्कृति के संदर्भ में अपने उद्भव की परंपरा को त्रेतायुगीन राम के समय में लंका के राजवैद्य 'सुषेण' से जोड़ते हैं। बैगा–जनजाति के उद्भव की इस परंपरा पर प्रकाश डालते हुए डॉ. श्रीराम परिहार अपने ललित–निबंध 'हंसा कहो पुरातन बात' में लिखते हैं कि– ''बैगा जनजाति सुखेन वैद्य से संबंधित

है। सुखेन वैद्य रावण का पुत्र था। वैद्य पर वार नहीं किया जाता, इसीलिए राम–रावण युद्ध में उसे नहीं मारा गया। ये बैगा–जनजाति उसी सुखेन वैद्य की संतान हैं। 'वैद्य' से 'वैद्या' और 'बैगा' हो गया। ये दूल्हा–देव की पूजा करते हैं। दूल्हा देव रावण ही हैं। ये बड़–देव(महादेव), काली और नकटी देवी (शूर्पणखा) की भी पूजा करते हैं। नकटी देवी इस क्षेत्र की प्रशासक थी। चित्रकूट के दक्षिण में एक योजन से और छोटी महानदी और सोन के संगमस्थल से दण्डकारण्य शुरू हो जाता है। दण्डकारण्य कूर्म पर्वत तक फैला है। कूर्म पर्वत पंचवटी (नासिक) के पास है। नर्मदा के उत्तर में विंध्य और नर्मदा के पूर्व में मेकल पर्वत है। मेकल पर्वत भारत में मेखला की तरह फैला है। मेकल पर्वत सतपुड़ा और विंध्य को जोड़ता है।''[9]

लोकदेवता के रूप में 'दूल्हादेव' को लेकर कई दंत कथाएँ प्रचलित हैं । मध्यप्रदेश में ही नरसिंहपुर जिले में दूल्हादेव को लेकर एक दंत–कथा प्रचलित है कि किसी समय इन्होंने दूल्हे के वेश में प्राणोत्सर्ग किया था इसीलिए इनको दूल्हा देव कहा जाता है। इनके मंदिरों एवं चबूतरों के आसपास आज भी कोई शादी होती है तो स्थानीय निवासियों में वर–वधू इनके आशीर्वाद के लिए जरूर ले जाए जाते हैं। इन्हीं दूल्हादेव के साथ लोकदेवता ठाकुर–देव का उल्लेख करते हुए डॉ. संतराम देशवाल लिखते हैं– ''एक नारियल ही क्यों न सही, पहले अर्पित न हो देवरास में दूल्हादेव के हाथों, मजाल है, दुल्हिन के पिता बरातियों को परघाने तैयार हो जाये। आदमी का क्या ठिकाना, कब मुकर जाय? एक देव ही तो हैं, जो हर घटना में साक्षी होते हैं। ठाकुरदेव को ठंट्ठा न समझें! वे ब्रह्मा, विष्णु, महेश के भी पितृ–पुरुष हैं। लोक की आदि–धरती बस्तर का यह लोकगीत मंत्र भी है–

''सियपुर उपजै सियरिया वो माता
डिहपुट ठाकुर देव जो भल
फेर देख सिरजत है तीन झन रे भाई
बरमा बिसुन महेशे जो भल।।''

छत्तीसगढ़ में ग्राम–देवता या लोकदेवता के रूप में ठाकुर देवता पूजे जाते हैं। ऐसे लोकपूज्य ठाकुर देव के संबंध में डॉ. जयप्रकाश मानस लिखते हैं– ''मेरे ठाकुर–देव विश्वदेवता नहीं, उनके पास न तो प्रचार–मंत्र है, न हि उनके शिविर में लेखकगण। साम्राज्य–विस्तार का कोई स्वप्न भी नहीं उनका। वे तो ग्राम–देवता हैं। परम संतोषी हैं, उनके संतोष में ही हमारे धन–धान्य की संपन्नता है। परम संकोची हैं वे, उनके संकोच में ही हमारे घर–द्वार, गाँव–परिवार की मर्यादा सुरक्षित है।''[10] बुंदेलखंड में लोकदेवता कुँवर हरदौल का नाम मर्यादा की रक्षा के लिए स्वयं को बलिदान देने के कारण प्रथमपूज्य देव के रूप में लिया जाता है। आज हिन्दी के स्थापित ललित–निबंधकार डॉ. राहुल मिश्र बुंदेली वीर लोकदेवता हरदौल जू की लोकमान्यता के संबंध में लिखते हैं कि– ''श्रीराम को दैवत्व की प्राप्ति है, उन्हें लोग देव के रूप में देखते हैं जबकि कुंवर हरदौल सामान्य नर के रूप में हम सभी के बीच का ही व्यक्ति दिखाई देता है इसीलिए भी हरदौल की मान्यता अधिक है।...इस कारण हर गाँव में हरदौल के चबूतरे के रूप में दिमान हरदौल जू आज भी विद्यमान हैं और जिस प्रकार धार्मिक कृत्यों में गणेश की पूजा होती है उसी प्रकार व्यावहारिक तौर पर सबसे पहले हरदौल ही पूजे जाते हैं।''[11] लोकदेवता लोक–संस्कृति में आस्था एवं लोकविश्वासों के आलम्बन होते हैं। स्थान, समाज, पर्व त्यौहार, मान्यता आदि के अनुसार इन लोकदेवताओं में भिन्नता पायी जाती है। लोकदेवता के रूप में जिन पराशक्तियों की पूजार्चना की जाती है वे या तो शास्त्रोल्लखित ऐसे देवी–देवता हैं जो लोक में रच बस गये हैं या किसी देवधामी से संबंधित ऐसे लोकदेवता हैं जो समाज की वर्षों पुरानी अंधविश्वासों या मान्यताओं या आस्थाओं या अपने कृत्यों के कारण लोकदेवता के रूप में व्यक्ति की श्रद्धा के आलंबन बनकर प्रतिष्ठित हो गये हैं। लोक की मान्यता है कि इनकी प्रसन्नता या इनका प्रकोप ही, परिवार या समाज या समूचे परिवेश को प्रभावित करता है जिसके कारण लोग इनकी प्रसन्नता हेतु समय–समय पर उनके प्रति भय या आस्था के

कारण आयोजन आदि में संलग्न रहते हैं। इनकी प्रसन्नता या कोप के आधार पर इन्हें कुल देवी या देवता, अनिष्टकारक या अपदेवता आदि कहा जाता है।

उपसंहार– लोक–संस्कृति में लोकदेवताओं का विशेष स्थान रहा है। हिन्दी के ललित–निबंधकारों ने अपने ललित–निबंधों में प्रकृति से इन लोकदेवताओं का संबंध जोड़ते हुए विभिन्न संदर्भों में उनकी व्याख्या की है। मदन देवता को आचार्य द्विवेदी ने, गोवर्धन को पं. रामनारायण उपाध्याय ने, मिट्टी से बनाये शिवलिंग को आचार्य विद्यानिवास मिश्र ने, गंगा को डॉ. कुबेरनाथ राय, डॉ. विवेकीराय, डॉ. रामअवध शास्त्री, डॉ. संतराम देशवाल, डॉ. जयप्रकाश मानस आदि ने अपने अनेक ललित–निबंधों में लोकदेवी के रूप में चित्रित किया है। सक्षेप में कहा जाए तो लोकदेवी–देवताओं का व्यापक चित्रण आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के द्वारा उल्लखित मदनदेवता से लेकर वर्तमान स्थापित ललित–निबंधकारों की पंक्ति में सम्मिलित युवा ललित–निबंधकार डॉ. राहुल मिश्र द्वारा वर्णित हरदौल–जू तक मिलता है। दादा महराज दूल्हादेव संबंधी विभिन्न मान्यताओं का उल्लेख भी पं. विद्यानिवास मिश्र, डॉ. कुबेरनाथ राय, डॉ जयप्रकाश मानस, डॉ. राहुल मिश्र आदि के अनेक ललित–निबंधों में मिलता है। गणगौर की देवी रनुबाई का उल्लेख पं. रामनारायण उपाध्याय एवं डॉ. श्रीराम परिहार ने किया है। छत्तीसगढ़ की लोकपरंपरा के ठाकुर देव का उल्लेख डॉ जयप्रकाश मानस के ललित–निबंधों में मिलता है। हरियाणा की अनेकानेक वीरगाथाओं एवं घनघोर बारिश में गायी जानेवाली आल्हा–ऊदल और दीवान हरदौल–जू के साथ–साथ अवध के गाजी मियाँ और निमाड़ के गणगौर–संबंधी लोकगाथाओं को भी ललित–निबंधों में आश्रय मिला है। इस प्रकार हिन्दी के ललित–निबंध साहित्य की पूरी परंपरा उठाकर देखी जाए तो ज्ञात होता है कि प्रारूपणकाल में देश, समाज और भाषा की स्वाधीनता के विचार ही हिन्दी के ललित–निबंधों की शैशवावस्था में प्रमुखता से व्याप्त थे परंतु समन्वयकाल के प्रारंभ से ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के ललित–निबंधों के माध्यम से लोकदेवताओं को ललित–निबंध साहित्य में स्थान मिला जो आज ललित–निबंधों के विस्तार काल तक लोकदेवी–देवताओं से संबंधित अनेक संदर्भों में विस्तार पाता चला आ रहा है।

संदर्भ–

1. शुक्ल, डॉ. परशुराम 'विरही', बुंदेलखंड की संस्कृति, द्वितीय संस्करण–2009, हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, मूल्य– 50 रुपये, पृ.–21
2. दूबे, डॉ. श्यामाचरण, मानव और संस्कृति, राजकमल प्रकाशन
3. उपाध्याय, डॉ. कृष्णदेव, लोकसाहित्य की भूमिका, संस्करण–2008, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, मूल्य–100रुपये, पृ.–253,
4. उपाध्याय, पं. रामनारायण, जनम–जनम के फेरे, संस्करण–1980, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य– 25 रुपये, पृ.–157
5. देशवाल, डॉ. संतराम, लोक आलोक, हल हाँको महादेव, गोयल इन्टरप्राइज़ेज, दिल्ली, प्रथम–2005 मूल्य– 160 रुपये, पृ.–84
6. शर्मा, डॉ. मालती, बागड़ों से उखड़े बबूल, प्रथम संस्करण–2007, शैवाल प्रकाशन, गोरखपुर, पृ.–88–89
7. राय, कामधेनु, कुबेरनाथ, प्रथम संस्करण–1990, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, मूल्य– 70 रुपये, कुबेरनाथ राय, पृ.–13
8. राय, डॉ. कुबेरनाथ, कामधेनु, प्रथम संस्करण–1990, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, मूल्य– 70 रुपये, पृ.–38
9. परिहार, डॉ. श्रीराम, हंसा कहो पुरातन बात, आलेख प्रकाशन, संस्करण–द्वितीय 2014, मूल्य– 250 रुपये, पृ.–126
10. मानस, डॉ. जय प्रकाश, दोपहर में गाँव, गाँव के प्रथम शुभचिंतक, शताक्षी प्रकाशन, रायपुर, पृ–93
11. मिश्र, डॉ. राहुल, दसंकधर का अट्टहास, बुंदेला देसा के हो लाला प्यारे भले हैं..., संस्करण–2012, नवीन प्रकाशन शहादरा, नई दिल्ली, पृ.–50

लोक संगीत में राग पहाड़ी का स्थान

(पंजाब के सन्दर्भ में)

–जगदीप सिंह*

भारतीय संगीत अपनी विभिन्न सांगीतिक विधाओं के कारण विश्व प्रसिद्ध है तथा संगीत जगत में अपना विलक्षण स्थान बनाए हुए है जिसका आधार राग है। बिना राग के भारतीय संगीत की कल्पना भी नहीं की जा सकती। भारतीय संगीत–परंपरा में रागों का भंडार है जिसके अंतर्गत देवी–देवताओं से संबंधित राग भैरव, हिंडोल, भैरवी, बागेश्वरी, रागेश्वरी, कलावती, दुर्गा आदि ऋतुओं से संबंधित राग बसंत, मेघ, मल्हार, बहार आदि इसी की शांति क्षेत्रों या लोक संगीत से सम्बंधित रागों में राग मांड, आसा, माझ, मुल्तानी, जैजैवंती, गुजरी आदि प्राप्त होते हैं। क्षेत्रों से संबंधित रागों का लोक संगीत के प्रचार–प्रसार में अपना अहम स्थान है। लोकगीतों में हर क्षेत्र की अपनी सभ्यता और संस्कृति के रीति–रिवाजों की छाप होती है और इस तरह के सभ्याचार को प्रस्तुत करने की क्षमता भी लोकसंगीत या क्षेत्रीय धुनों से उत्पन्न रागों में ही होती है। चाहे वह पंजाब का लोक संगीत हो, राजस्थान का हो, चाहे अवधी लोक संगीत हो आदि। हर प्रदेश के लोक संगीत में क्षेत्रीय रागों ने अपनी स्वरावलियों से उस क्षेत्र के लोक संगीत को अमीर बनाने में योगदान दिया है।

मुख्य शब्द : लोक, संगीत, राग, पहाड़ी, जनमानस, गायन

शोध–पत्र में क्षेत्रीय राग पहाड़ी का पंजाब के लोक संगीत में स्थान को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है जिसका निम्नलिखित वर्णन इस प्रकार है–

राग पहाड़ी का स्वरूप :

''यह बिलावल ठाट का औड़व राग है। मध्यम, निषाद वर्जित है । यह राग प्रत्येक समय गाया जा सकता है। इसमें मंद्र और मध्य सप्तक के स्वर विलंबित लय में भले मालूम होते हैं। इसमें षड़ज और पंचम का संवाद होना प्रिय मालूम होता है और मंद्र की धैवत अत्यंत सुंदर प्रतीत होती है । पहाड़ी किसी–किसी स्थान पर भोपाली मालूम होता है। इसलिए गाने वाले इसमें शुद्ध मध्यम का कण लेते हैं।

आरोह – सा रे ग प ध सं
अवरोह – सं ध प ग रे स''

पंडित भोलानाथ जोशी के अनुसार –

''राग – पहाड़ी
थाट – बिलावल
जाति – औड़व औड़व
वादी – षड़ज
संवादी – पंचम
वर्जित – मध्यम और निषाद
गायन – समय सर्वकालिक
आरोह – सा रे ग प ध सं
अवरोह – सं ध प ग प ग रे स
उठान – ग रे स ध़ प़ ध़
स ग प ध प ग रे स ध़''

वर्तमान में राग पहाड़ी अपने वास्तविक स्वरूप से अधिक मिश्रित रूप में अधिक प्रचलित है क्योंकि इसकी मधुर एवं लचकदार स्वरावली के कारण हर क्षेत्र के गायक कलाकारों ने इस स्वरावली को अपनाया और अपने बोध के अनुरूप विभिन्न स्वरावलियों का राग पहाड़ी के साथ मिश्रण कर कुछ नया करने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप राग पहाड़ी का औड़व–सम्पूर्ण स्वरावली के अन्तर्गत गायन किया जाता है जिसकी

*शोध-छात्र, संगीत, महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बड़ोदरा

पुष्टि संगीत गुणीजनों के द्वारा की गई है। ''प्रचलित पहाड़ी में ठुमरी, दादरा, ग़ज़ल, भजन आदि 'क्षुद्र' गीतों का गायन होता है। उसमें बरह स्वरों का प्रयोग होता है तथा प्रायः मध्यम षड़ज मानकर उससे गायन किया जाता है।''

राग पहाड़ी लोक संगीत से उत्पन्न धुन–प्रधान राग है जो अपनी साधारण एवं मधुर स्वरावली के कारण लोक गीतों में अहम स्थान बनाए हुए है। लोक संगीत से उत्पन्न होने के कारण राग पहाड़ी का गायन सदैव मध्यम को षड़ज मानकर किया जाता है क्योंकि विद्वानों अनुसार लोक संगीत का चलन हमेशा ऊंचे स्वरो में होता है। मंद्र और मध्य सप्तक में इस राग की स्वरावलियों का विस्तार होने के कारण मंद्र सप्तक की स्वरावलियां फीकी ना लगे, इसलिए मध्यम को षड़ज मानकर गायन किया जाता है।

इस राग का स्वरूप बहुत ही जल्दी खिलता है और साधारण जनमानस भी ऐसी स्वरावलियों में आसानी से गाने लगता है जिसके फलस्वरूप पंजाब के लोक संगीत में जहां विभिन्न क्षेत्रीय रागों की स्वरावलियों का अपना स्थान है, वहीं पहाड़ी स्वरावली आधारित लोकगीत भी पंजाब के लोक संगीत में अपना अहम स्थान रखते हैं जिसके अंतर्गत विभिन्न अवसरों पर पहाड़ी स्वरावली आधारित लोकगीतों का गायन किया जाता है जिसका वर्णन निम्नलिखित है :

माहिया : इस लोकगीत में दो प्रेम करने वाले प्रेमी प्रेमिका का जिक्र रहता है जिसमें आपसी प्रेम की सच्ची भावनाओं का वर्णन रहता है

1. ''आसमानी चिल फिरदी
तेरी मेरी इक जिंदड़ी
बागे विच नित मिलदी''

2. कोठे ते काअना ए
मिलणा ते रब्ब नू ए
तेरा प्यार बहाना ए

जिंदुआ : यह लोकगीत माहिए की भांति अपने प्रिय के लिए गाया जाता है जिसमें बिरह, प्रेम आदि भाव को व्यक्त किया जाता है। जैसे :

''जिन्दुआ ते रस बिन्दूआ, दो सक्के भरा।
जिन्दुए संग माएं मेरीए लए नेण मिला
होगी ला... ला...
सारे पिड़ विच, हो सारे शहर विच
जिहड़ी दिलां नू लाईआ आ ओ जिन्दुआ
वे जिहड़ी तोड़ निभाई आ ओ जिन्दुआ...''

ढोला : इस लोक गीत में एक बिरहन और प्रिय के बीच की दूरी का वर्णन मिलता है जिसमें बिरहन अपने भावों को व्यक्त करती हुई गाती है :

मैं ऐथे ते ढोल मेरा रईऐ,
टुट जान गड़ी दे पहीए
जिहडी लय सजन्ना नू गई ऐ,
ते आ मिल राझण यार वे ढोला
साड़े वेहडे आ वे राझणा साडे वेहडे आ...

घोड़ियाँ या घोड़ी लोकगीत : लड़के की शादी के अवसर पर गायन किया जाने वाला लोकगीत है जिसमें लड़के की बहनों के द्वारा लड़के परिवार की शोभा का गुणगान, दूल्हे के लिए सजाई गई घोड़ी का वर्णन, दूल्हे के सौंदर्य का वर्णन आदि का गायन किया जाता है। उदाहरण के लिए :

1. घोड़ी तेरी वे मल्ला सोहणी, सोहणी वे...
सोहणी सजदी काठीआं नाल
काठी डेढ़ ते हजार मैं बलिहारी वे
मां देआ सुरजणा....

2. ''जदो चड़ेया वीरा घोड़ी वे,
ओदे नाल भारावां दी जोड़ी वे
लटकेंदे वाल सोने दियां लड़ियाँ
सोहणेयां वीरा वे तेनू घोड़ी चड़ेनियां''

सुहाग : लड़की की शादी के अवसर पर उसके घर में गायन किया जाने वाला लोकगीत है जिसमें लड़की के सगे–सम्बन्धियों द्वारा लड़की के मनोभाव को व्यक्त करने के लिए, परिवार से बिछड़ने का भाव, पिता के प्रति स्नेह, वर–सम्बन्धी अपनी ईच्छाओं आदि भावों का गायन रूप में व्यक्त किया जाता है। उदाहरण के लिए :

''मेरे जिगर देआ तरखाणा
गिली लकड़ी दा चरखा बनाणा
एस चरखे नू खूब सजाएओ
एहदी सोने दी परत चढाएआओ...''

परिवारिक रिश्तों से सम्बन्धित लोक गीत :

ये लोक गीत परिवार के रिश्तों जैसे माँ–बेटी, पिता–पुत्री, बहन–भाईयों और सखी–सहेलियों, दोस्तों के मध्य होने वाले वार्तालाप और मनोभावों को व्यक्त करने के उद्देश्य से गाये जाते हैं : उदाहरण के लिए :

1. मधाणियां हो .... हाए ओ मेरे डाढेया रब्बा
   किहनां जम्मियां किहनां ने लै जाणियां हो

2. मावां ते धियां रल बैठियां नी माये
   कोई करदियां गल्लांणीयां हो
   नी कणकां लमीयां धीयां
   क्यों जम्मीयां नी माये

बोलियाँ :

लोक संगीत का ऐसा गायन रूप है जिसका सोलो गायन के साथ–साथ लोक नृत्य में भी गायन किया जाता है और भिन्न–भिन्न अवसरों के अनुरूप बोलियों के विषय विभिन्न धुनों में निबद्ध करके विभिन्न बोलियों के रूप में गायन किये जाते हैं। इसके लिए ऐसी स्वरावलियों का प्रयोग किया जाता है जो जल्दी पकड़ में आ जाएँ, जैसे भैरवी, पीलू, पहाड़ी राग आदि।

पंजाब की लोकसंगीत परम्परा में पंजाब के पुरूषों तथा स्त्रियों के लोक–नृत्यों का अहम स्थान है जो विभिन्न अवसरों में अपने भावों को व्यक्त करने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं। पुरुषों के लोक नाच में भांगड़ा, झूमर, लुड्डी आदि शामिल हैं जबकि स्त्रियों के लोक नाच में सम्मी, गिद्दा, जागो आदि शामिल हैं जिसमें लोक बोलियों का गायन किया जाता है। पहाड़ी स्वरावली के अन्तर्गत पुरुषों एवं स्त्रियों के नृत्य सम्बंधित बोलियों के उदाहरण इस प्रकार हैं–

भाँगड़ा : यह पुरूषों का बहुत ही लोकप्रिय लोकनाच है जिसमें हर्षोल्लास को व्यक्त किया जाता है। इसमें गायन और नृत्य की प्रस्तुति बहुत जोश के साथ रहती है, जैसे :

1. ''भंगड़े च काटो देख नच्चदी फिरे
   हदों वध खुशी विच्च जच्चदी फिरे
   खुशी विच पाउंदे बोलियां ने शौंक नाल
   पैंदा यारो भंगड़ा पट्टां दे ज़ोर नाल''

2. शौंक मित्रां दा मड़कां दे नाल तुरना
   रहना खिड़े मथ्थे करके ख्याल तुरना...

3. हो इक्क तेरे पैर दी झांजर
   पुकारे रांझण रांझण
   नी मित्तरां नू नच्च लैणदे
   सोहणीए अजे न जा

झूमर : झूमर लोक नृत्य का ऐसा रूप है जिसमें झूम–झूम कर नृत्य अथवा गायन किया जाता है और लोक–परम्परा से सम्बन्धित कार्य–विहारों की झलक झूमर में देखने को मिलती है। भाँगड़ा के विपरीत इसकी लय धीमी रहती है। उदाहरणार्थ :

1. ''वंजली वजाअ छोरा लम्मे देआ
   रौणक जानी घट वे, चल मेले नू चलीये
   मल्ला कड़ कुरते दे वट्ट ओए
   चल्ल मेले नू चलीये
   आह लैअ फड़ कुँजियाँ ते सांभ लै तिजौरियाँ
   खसमां नू खांदा तेरा घर वे
   चल मेले नू चलीये''

2. वगदी ए रावी विच बूटा ए काईऐ दा
निक्की जेही जिंद पता लगदा नी माहीए दा

लुड्डी : यह लोकनाच पंजाब में वैसाखी के मेलों के उपलक्ष्य में फसलों के पक जाने की खुशी में किसानों द्वारा नृत्य एवं गायन करके प्रस्तुत किया जाता है, जैसे :

1. आई विसाखी कणकां पक्कियां
वजदे ने ढोल नगाड़े
सत्थ विच गभरू लुड्डियां पाउंदे
खड़ के वेखण सारे

2. चार दिनां दा मेला एथे
हो बैठ सदा नई रहणा
नच्च लै टप्प लै लुड्डियां पा लैअ
पीर फकीर दा कहणा

3. हाणी नाल लुड्डियां पावें
नच्च नच्च तूं धरत हलावें
ढोली पिया ढोल वजावे
ढोले दियां तूं वी गावें
जस तेरे गावां मैं
शाला तूं जीवें ढोला
तेरी खैर मनावां मैं

सम्मी : सम्मी लोक गायन एवं नृत्य की ऐसी पेशकारी है जिसमें स्त्रियों द्वारा अपने प्रिय के प्रति भावों को व्यक्त किया जाता है, उदाहरण के लिए :

''मैं वारी मैं वारी मेरी सम्मिये
सम्मी मेरी वार
मैं वारी मैं वारी मेरी सम्मिये
कोठे उत्ते कोठड़ा नी सम्मिये
कोठे तपे तंदूर मेरी सम्मिये
गिण गिण लावां पूर नी सम्मिये
खावण वाला दूर नी सम्मिये
सम्मी मेरी वार
मैं वारी मैं वारी मेरी सिम्मये''

उपरोक्त पहाड़ी स्वरावली निबद्ध लोकगीत जो पंजाब की लोकसंगीत परम्परा का विशेष हिस्सा हैं, से स्पष्ट हो जाता है कि इस राग की स्वरावली की सरलता, चंचलता, मधुरता, एवं लोकप्रियता के अन्तर्गत एक बिरहन की वेदना, शादी से सम्बन्धित खुशी के लोकगीत, बेटी के लिए अपने माँ–बाप से दूर जाने की बात, आपसी रिश्तों की अहमीयत को बयान करने की बात और विभिन्न खुशियों व त्यौहारों सम्बन्धित भावों को व्यक्त करने की क्षमता राग पहाड़ी की स्वरावली में पाई जाती है। इस राग की स्वरावली की विशेषता एवम् लोकप्रियता के फलस्वरूप ही पहाड़ी स्वरावली आधारित लोकगीत पंजाब के गायक कलाकारों के अतिरिक्त जनसाधारण को भी स्मरण हैं, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पंजाब के लोक संगीत के प्रचार प्रसार में जहाँ विभिन्न क्षेत्रीय रागों की अपनी भूमिका है वहीं पंजाब की लोक संगीत परम्परा में राग पहाड़ी भी अपना विशेष स्थान बनाए हुए है।

सन्दर्भ सूची :

भातखण्डे, पं. विष्णु नारायण, क्रमिकपुस्तकमालिका भाग–5, पृ. 236

जोशी, पं. भोलादत्त, संगीत शास्त्र तथा रागमाला, पृ. 238

भातखण्डे, पं. विष्णुनारायण, श्री मल्लक्षसंगीत, पृ. 251–252

पेन्तल, डॉ. गीता, पंजाब की संगीत परम्परा, पृ. 175

https://www.youtube.com/watch?v=QEVspuBEYs4

https://www.youtube.com/watch?v=4KFMMXLX4Pc

https://www.youtube.com/watch?v=5oQuryjSJxY

https://www.youtube.com/watch?v=9pIxf1DEPuI

https://www.youtube.com/watch?v=9uBjGYe5HSc

https://www.youtube.com/watch?v=V-kMLWUFem0

लोक नाटक

–शुभ्रा वर्मा*

'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत के लोकदर्शने धातु से हुई है। इसका धातुज अर्थ देखने वाला है व रूढ़िगत अर्थ सामान्य लोग है। लोग व लोक दोनों ही शब्द अत्यन्त पुराने हैं। इनका प्रयोग अथर्ववेद में भी हुआ। यह ज्ञात है कि लोग एक सामान्य शब्द एवं लोक पारिभाषिक शब्द है। लोक शब्द को समझने के लिए मनुष्यवाची जन, मनुष्य, नर आदि शब्दों पर भी विचार कर लेना चाहिए। पं0 श्रीपद दामोदर सातवलेकर के अनुसार ये संज्ञाएँ मनुष्य की श्रेणी बतलाती हैं। उनके अनुसार जन का अर्थ है– 'प्रजनन करने वाला'। 'जन में इसके अतिरिक्त कोई गुण नहीं होते। जन के लिए 'आत्महनो जनाः' कहा गया। लोक केवल देखते हैं, आत्मोद्धार के मार्ग पर उन्नति नहीं करते। मनन करने वाला मनुष्य कहलाता है और जो भोगों में रमण नहीं करता, वह नर कहलाता है। इसका स्वरूप है– न रमते नरति इति नरः। इसलिए यह भी कहा गया है कि 'न कर्म लिप्यते।'

पृथ्वी के कुछ प्राणी जन श्रेणी में आते हैं, कुछ लोक, मनुष्य या नर श्रेणी में। जन्म लेना और मर जाना तथा अपने जैसे और पैदा कर जाना जन कहलाने के लिए पर्याप्त है, परन्तु अन्य संज्ञाओं का अधिकारी बनने के लिए इस दो हाथ, दो पैर धारण करने वाले प्राणी को कुछ गुण अपनाने होंगे। लोक संज्ञा का अधिकारी बनने के लिए उसमें दर्शन क्षमता होनी चाहिए। उच्च कोटि के द्रष्टा को भारत में 'ऋषि' कहा जाता है। 'ऋषयः मन्त्रद्रष्टारः' सूत्र का स्मरण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि निरुक्तकार यास्क ऋषि उस द्रष्टा को मानता है जिसका दर्शन उसकी मनन–क्षमता को भी प्रेरित करे। इस दृष्टिकोण से लोक का दर्शन सदैव लोक के मनन सामर्थ्य को जगाकर उसे मनुष्य बनाने में सहायक होता है।

मुख्य शब्द : लोक, नाटक, रंगमंच, बिदेसिया, लोक जीवन, नाट्य विधा

लोक को परिभाषिक रूढ़ मानकर उसकी यौगिकता के आधार पर यह समझना कठिन नहीं कि लोकदर्शन क्या है। शरीर में चेतन मन को प्रेरित करने वाला अवचेतन मन होता है जिसमें व्यक्ति की चेतना के समस्त सूक्ष्म संस्कार संचित रहते हैं।

समाज को एक शरीर मानने पर उसके चेतन मन को साहित्यिक परम्पराओं में निहित मानना होगा, जबकि उसका अवचेतन मन लोक है। प्रत्यक्ष दर्शन से संचित लोक के सूक्ष्म संस्कार उसके साहित्य को वैसे ही प्रेरित करते हैं, जैसे व्यक्ति का अवचेतन मन चेतन मन की क्रियाओं को प्रभावित करता रहता है। लोक का अत्यन्त प्रभावी सूक्ष्म अंश साहित्य में विशेषतया शास्त्र–संज्ञक साहित्य में छन–छन कर आया करता है। लोक सागर है तो शास्त्र उसकी कतिपय लहरें मात्र।

'लोके वेदे च' इस सूत्र में सारा भारतीय जीवन समाया हुआ है। वेद भारतीय समाज की समस्त व्यक्त चेतना का मूलाधार है तो लोक उसकी अव्यक्त चेतना का नाम है, जिसमें एक ओर तो उसकी चेतना व्यवहार में प्रतिफलित होती रहती है और दूसरी ओर व्यक्त चेतना को आधार प्रदान करने वाले संस्कार निरन्तर संचित होते रहते हैं। डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल ने जहां वेद को उस मधुमय उत्स की संज्ञा प्रदान की है जिससे भारतीय अध्यात्म–शास्त्र के समस्त स्रोत प्रभावित हुए हैं, वहाँ उन्होंने यह भी जाना है कि लोक का प्रत्यक्ष दर्शन ही समग्र दर्शन की कुंजी है। महाभारत में कहा गया है कि लोक का प्रत्यक्ष दर्शन करने वाला ही सर्वदर्शी होता है।

लोकनाट्य : स्वरूप, परिभाषा तथा विशेषताएँ

लोकनाट्य की कला अत्यन्त प्राचीन है। इसका

*अतिथि प्रवक्ता, नाट्य, मंच कला विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी

प्रारम्भिक रूप वेदों में दिखायी देता है। मनुष्य ने अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए भाषा का प्रयोग न करके संकेतों का ही सहारा लिया होगा। इन संकेतों को ही हम अभिनय का प्रारम्भिक रूप मान सकते हैं। आगे मानव का जैसे–जैसे विकास होता गया उसने अपनी इस सांकेतिक प्रवृत्ति को परिष्कृत कर नाट्यकला के रूप में परिवर्तित किया होगा। इसमें उन्हें प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों से बहुत सहायता मिली। भरत द्वारा रचित 'नाट्यशास्त्र' नाट्यकला का प्रामाणिक ग्रन्थ है। 'नाट्यशास्त्र' में वर्णित अंशों से यह स्पष्ट होता है कि परिस्थिति विशेष में उत्पन्न सामाजिक चेतना का प्रतिफल ही नाटक है। भरत के अनुसार ब्रह्मा ने भी वर्णों के मनोरंजनार्थ ऋग्वेद से शब्द, यजुर्वेद से अभिनय, सामवेद से गान और अथर्ववेद से रस लेकर पंचम वेद के रूप में नाट्यशास्त्र की रचना की। लोकनाट्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन ही नहीं है, इसका उद्देश्य जनसाधारण को न केवल आनन्द देना बल्कि ज्ञानवर्द्धन और जनजागरण भी लोकनाट्य लोकगत अर्जित अनुभूतियों में से मानव के मूल अध्यात्म की अभिव्यक्ति का भी माध्यम है।

लोकनाट्यों से हमारा अभिप्राय उन नाटकों से है, जिनके अभिनय हेतु किसी प्रकार की रंगमंचीय तैयारी नहीं करनी पड़ती तथा जिनका सम्बन्ध विशिष्ट शिक्षित समाज से भिन्न सर्वसाधारण के लोकजीवन से हो। इस प्रकार के नाटकों में जनजीवन तथा लोकसमाज के हर्षोल्लास की अभिव्यक्ति मिलती है, साथ ही इनमें संगीत की भी प्रमुखता होती है। सामूहिक आवश्यकताओं और प्रेरणाओं से लोकनाट्य निर्मित होते हैं। लोक में प्रचलित सामाजिक रूढ़ियों, धार्मिक अनुष्ठानों, कथा–आख्यानों तथा वार्ता–विश्वासों की सफलता इन लोकनाट्कों की मूल पीठिका होती है। लोकनाट्यों में हमें नृत्य, संगीत और अभिनय ये तीन तत्व प्राप्त होते हैं जो जनमानस की प्रेरणाओं तथा कामनाओं की कलात्मक अभिव्यक्ति है।

बिदेसिया :

बिदेसिया ने बिहार ही नहीं बल्कि उत्तर प्रदेश और बंगाल के ग्रामीण भोजपुरिया इलाकों में अपनी ख्याति फैलायी हुई है। यह यहाँ का संगीत, नृत्य, नाट्य मिश्रित सर्वाधिक लोकप्रिय मनोरंजनात्मक नाट्य है। वैसे तो इसका प्रवर्तक गुछरराय को माना जाता है किन्तु भारतीय स्तर पर इसे प्रतिष्ठित करने का श्रेय भिखारी ठाकुर को ही है। भिखारी ठाकुर ऐसे लोक नृत्य गायक थे, जिनके कमर और आवाज का जन–जन दीवाना था। इनकी मंडली ने पचास वर्षों की अवधि में अनगिनत जगहों पर अपना प्रदर्शन किया और अप्रत्याशित सफलता प्राप्त की।

बिदेसिया मंच का कोई निश्चित आकार और स्वरूप नहीं होता। खुले स्थान पर चौकी, तख्या या ईंट, बांस या मंच बनाकर चंदोवा या शामियाना तान दिया जाता है। कहीं–कहीं पर यह मंच मुक्ताकाशी भी होता है। वेशभूषा और रूप–सज्जा पर क्षेत्रीय जनप्रकृति एवं आंचलिकता का यथेष्ठ प्रभाव छाया रहता है। वस्त्रालंकार पात्र के चारित्रिक गुणों पर निर्भर होता है। शहर से लौटा बिदेसिया ही पैर में जूता पहनता है। अन्य पात्र जूते नहीं पहनते।

नृत्य गीत और अभिनय के जादूगर भिखारी ठाकुर अपनी कला के बादशाह थे। बाल विवाह की बात हो या विधवा–विलाप, कैकेयी–मन्थरा संवाद हो या तोता–मैना, गल्प, सोरठी–बृजभान या रामलीला, महाभारत, आल्हा–ऊदल की प्राचीन कथा हो, भिखारी ठाकुर लोकगीतों द्वारा अभिनय के ढंग प्रस्तुत कर फिल्मी दुनिया तक पहुँच गये। तबला, ढोलक, हारमोनियम और सारंगी आदि की स्वर लहरियों में जब भिखारी ठाकुर

का स्वर मिलता था तो दर्शक–श्रोता भावविह्वल हो नाच उठता था।

बिदेसिया में सूत्रधार, कथागायक और नायक की भूमिका स्वयं भिखारी ठाकुर निभाते थे। वादकगण (समाजी) नाटक के अंत तक मंच पर उपस्थित रहते हैं। बिदेसिया के प्रदर्शन का प्रारम्भ भवानी वंदना से होता है। नगाड़ों की चोट के साथ जब अभिनेता मंच पर आता है तो एक अजीब उल्लासमयी आवाज पैदा होती है। इसके बोल ग्रामीण हृदय की गहराई तक उतरते हैं। सहज, सरल, आडम्बरहीन अभिनय दर्शकों के मन को छू लेते हैं।

'बिदेसिया' भिखारी ठाकुर का चर्चित नाटक था और इसी के नाम पर इनकी नाट्य–विधा का नाम ही बिदेसिया पड़ गया। 'बिदेसिया' में किसी स्त्री का पति विदेश चला जाता है और वहाँ जाकर किसी वेश्या के चंगुल में पड़ जाता है। उसके विदेश गमन के पश्चात् उसकी नवपरिणीता उसके विरह में व्याकुल हो अपनी मनःस्थिति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत करती है। इसमें विदेश कोलकाता है।

मनोरंजन के साथ–साथ भिखारी ठाकुर ने स्वस्थ समाज की स्थापना में बहुत बड़ा योगदान दिया है। बाल–विवाह, विधवा–विलाप, ननद–भौजाई, पिता–हत्या आदि नाटकों के माध्यम से समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनैतिकता तथा कुरीतियों पर कुठाराघात किया है। बिदेसिया का लक्ष्य समसामयिकता, सामाजिकता एवं लोकोपरंजन ही रहा है।

सोनभद्र की धांगर जाति का करमा नृत्य एवं उनकी समस्याएँ

–डॉ. श्वेता चौधरी*

उत्तर प्रदेश का सबसे बड़ा जिला मिरजापुर का विभाजन कर दो और जिला बना (1) भदोही (2) सोनभद्र। वर्तमान में सोनभद्र राबर्ट्सगंज से फैलता हुआ छत्तीसगढ़ का जिला सिद्धी और झारखण्ड का जिला पलामू से मिलता है। वैदिक कालीन पौराणिक साहित्य पर दृष्टिपात किया जाय तो यह मालूम होता है कि सोनभद्र सदियों पुराने शोणनद की कोख से जन्मा है। यह विन्ध पर्वत श्रृंखलाओं के मध्य अमर कण्टक अरावली से उत्सृजित होकर महानद की श्रेणी में शोणनद के रूप में अलंकृत है। विश्व की अनेक नदियों में शोण को श्रेष्ठनद की उत्कृष्ट श्रेणी में माना जाता है। यह दोनों तरफ से भयानक वनों, पहाड़ों, आदिम जातियों तथा विषैले जानवरों, जन्तुओं से आच्छादित रहा है। सोन सरित के विशाल भू–क्षेत्र में खनिज, वन्य, नद्य और भूगर्भ की अपार सम्पदाओं का उपयोग उपभोग यहां का तत्कालीन आदिवासी वनवासी मानव समूह करता रहा। यहां की सोन–भूमि आदिवासी सभ्यता, कला–संस्कृति का प्रमुख क्षेत्र रहा है। अविभाजित मिरजापुर का दक्षिणांचल तथा मध्य प्रदेश, बिहार को स्पर्श करता समस्त भू–भाग आदिवासी वनवासी प्रधान क्षेत्र रहा। इन सोन भू–भाग में लम्बे काल खण्ड को काटती चली आ रही आदिवासीय वनवासीय जन–जातियों में प्रायः कोल, अगरिया, धरकार, मुसहर, भुइया, गोंड, बैगा, धांगर, चेरो, माझी और खरवार, मझवार–वारी, पठारी, घसिया आदि अनेक जातियां एवं उपजातियां पाई जाती हैं। इनके नृत्य में वाद्य के साथ थिरकने, चलने की विशिष्ट प्रकार की प्रवृत्तियां हैं। '' लोकनृत्य वस्तुतः प्राकृतिक नृत्य है, आदिवासी जाति के लोग करमा, शैला, डोमकच, अगरही आदि नृत्यों के माध्यम से अपनी उपासना भी दर्शाते हैं। आदिम जातियों में यह नृत्य आदिवासियों के संवाहक ही नहीं बल्कि उनकी अस्मिता की पहचान भी हैं। इन जातियों में से बैगा लोग जादू–टोना, भूत–प्रेत बाधा का मंत्र–बल से निवारण करते हैं। इन वन्य जातियों के पुरोहित होते हैं तथा इन्हें ओझा कहा जाता है। वैसे अन्य सभी आदिवासी मानव भूत–प्रेत में विश्वास रखते हैं। ये लोग प्रेत–पूजन के अलावा डीह, ब्रह्म एवं देवी–देवता का भी पूजन करते हैं। लगभग समस्त आदिवासी प्रकृति उपासक होते हैं। ये जातियां सोन महानद के चारों तरफ विस्तृत भू–भाग में कबीले बनाकर रहती थीं। हर जाति का अलग कबीला व अपना सरगना होता था। वे वन्य जातियाँ लड़ाकू होती थीं और कमज़ोर कबीले पर आक्रमण करके उसे अपने कब्जे में कर लिया करती थीं। कबीलों का सरदार उस क्षेत्र और उस कबीले का राजा कहलाता था। इन जातियों में धांगरों का पहले यहां दबदबा रहा।

मुख्य शब्द : करमा, नृत्य, धांगर, जाति, जनजाति

धांगर जाति जो उराँव के नाम से भी जानी जाती है। स्थानीय किंवदंती से पता चलता है कि धांगड़ शब्द धान से लिया गया है। मूल रूप से उराँव ही इनका मुख्य नाम है जबकि धांगर, कुडुख, ढाका इत्यादि इनको कई स्थानों पर मिले हुए नाम है।

डॉ. करमा उराँव का विचार है कि ''भारत के अन्य भाग एवं नेपाल के बार्डर क्षेत्र में इन्हें धांगर के नाम से जाना जाता है किन्तु यह इनका मुख्य नाम नहीं है।

मानवशास्त्री **डॉ0 के0 एस0 सिंह** ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि ''मध्य प्रदेश में उराँव को 'ढांका' और 'धांगड़' कहा जाता है।

इसी तरह श्री एच0 बी0 रौनी लिखते हैं– ''उराँव को धांगर और पहाड़ी आदमी के नाम से जाना जाता है।

ए0 बी0 शरण ने बिहार की जनजातियों पर काफी कार्य किया है। इनका मत है उराँव को 'काडु' और 'धांगड़' के नाम से भी जाना जाता है।

अंग्रजी विद्वान एफ0 हॉन ने उराँव एवं कुडुख शब्द के अलावा इनके अन्य नामों को भी स्वीकार किया है। उनका कहना है ''उराँव को धांगड़, किसान और कोड़ा भी कहा जाता है।

*पी.डी.एफ. नृत्य विभाग, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

धांगड़ का अर्थ– वह आदमी जो मजदूरी का काम करता है।

हिन्दी में इसे किसान कहा गया जिसका अर्थ खेती करने वाला व्यक्ति है।

इसी तरह से कोडा या कोड़ा कहा गया जिसका अर्थ कोड़ने वाला व्यक्ति होता है।

रसैल एवं हीरालाल, जिन्होंने भारतीय आदिवासियों का अध्ययन किया है, का विचार है कि ''मध्य भारत के छोटानागपुर में धांगड़ का अर्थ खेत में काम करने वाला मजदूर से है जिसको एक विशेष परम्परा के अनुसार काम पर लगाया जाता है।

पुनः ई0 टी0 डाल्टन कहते हैं कि 'डांग' या 'ढांग' से 'धांगड़' शब्द बना है। दक्षिणी तराई के गाँवों में आदिवासी लोग युवक के लिए 'धांगड़' और युवती के लिए 'धांगड़ी' शब्द का प्रयोग करते हैं।

धांगर, उराँव के अतिरिक्त इन्हें कई नामों से पुकारा जाता है यथा–ढंका, कुडुख़, पहाड़ी आदमी, काडु, कोल, किसान, कोड़ा, नागपुरिया, गाँगपुरिया, बेरगा, मोदी तथा डीगर।

डॉ0 करमा उराँव ने अपनी पुस्तक 'द स्पैक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रीलिजन इन बिहार' में लिखा है कि भारत के अन्य भाग एवं नेपाल के बॉडर में इन्हें धांगर के नाम से जाना जाता है किन्तु यह इनका असली नाम नहीं है। धांगड़ एवं धांगड़ी मुण्डारी शब्द है जिसका अर्थ युवा लड़का एवं युवा लड़की होता है। लेकिन आर्य भाषा–भाषियों ने इसका अर्थ घरेलू नौकर के रुप में लिया और यही गलत परम्परा अभी तक चली आ रही है, जो गलत है। उराँव जाति अपने लिए उराँव एवं कुडुख शब्द के सम्बोधन को छोड़कर बाकी सभी सम्बोधन को अपमानजनक मानती है। अतः इस पत्र में मैं धांगड़ जाति के लिए उराँव शब्द का प्रयोग करुँगी।

भारत में उराँव (धांगर) जनजाति का मुख्य केन्द्र छोटानागपुर का पठार है इसके अतिरिक्त यह जनजाति देश के दूसरे भाग पूर्णिया, शहाबाद, भागलपुर, कटिहार, उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर, बंगाल के पुरूलिया, असम के कछार, कामरूप, दरांग, नोवागाँव, शिवसागर, लखीमपुर तथा अण्डमान निकोबार द्वीप समूह आदि जगहों में मिलते हैं इसके अतिरिक्त मॉरीशस में इनकी संख्या काफी अच्छी बताई जाती है। कुडुख शब्द इनमें जाति एवं भाषा के लिए प्रयुक्त होता है। यह भाषा एक समृद्ध भाषा है। इस जनजाति की अपनी संस्कृति, रीति रिवाज़, परम्परा एवं अपना धर्म है। इनका सांस्कृतिक केन्द्र 'अखड़ा' होता है। यहाँ पर्व–त्योहार में विशेष नाच–गान होता है। यहीं पर अखड़ा से सटकर 'धुमकुड़िया' होता है जो इनका सांस्कृतिक प्रशिक्षण केन्द्र होता है। इनका राजनीतिक संगठन भी बहुत मजबूत होता है जिसे 'पहड़ा' के नाम से जाना जाता है। 'पहड़ा' की बैठकें अखड़ा में ही होती हैं। अपने सभी प्रकार के विवादों का निपटारा इसी पड़हा द्वारा किया जाता है। इनके ग्राम इकाई का मुख्य व्यक्ति 'महतो' कहलाता है। कई गाँवों को मिलाकर बड़ी इकाई बनायी जाती है जिसका मुख्य व्यक्ति 'पहड़ा राजा' कहलाता है। यह समाज पितृप्रधान होता है, जहाँ पिता के सम्बन्धी ही अधिक निकट समझे जाते हैं। इसकी आवश्यकता विवाह सम्बन्ध निश्चित करने के लिए भी होती है। इसी के आधार पर पिता के पूर्वजों के दल का निर्माण होता है। इस दल को 'गोत्र' कहते हैं। उराँव अथवा धांगड़ समाज गोत्र पर आधारित है । ये गोत्र के प्रतीक टोटेम के प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त करते हैं तथा उन्हें किसी भी तरह से हानि नहीं पहुँचाते हैं। इस जाति के बीच मुख्यतः निम्नलिखित गोत्र पाये जाते है–

गोत्र	**प्रतीक चिह्न**
एक्का, कच्छप	कछुआ
किस्सपोट्टा	सूअर की अंतड़ी
केरकेट्ट	एक प्रकार की चिड़िया
लकड़ा	बाघ
खेस्स	धान
ख़ाख़ा	कौवा

ख़लखो़ / लिन्डा	एक प्रकार की मछली
मिंज / बिन्हा	एक प्रकार की मछली
गिंधि	गिद्ध
टोप्पो	एक प्रकार का पक्षी
तिर्की	एक प्रकार का पक्षी
पन्ना	लोहा
बाण्डो	जंगली बिल्ली
बेक	नमक
बाखला	एक प्रकार का घास
तिग्गा / गाड़ी	बन्दर
बाड़ा	बट का वृक्ष
कोया	जंगली कुत्ता
कुजूर	कुजूर का पौधा
किन्डो	मछली

इस तरह पशु, पक्षी, पेड़–पौधे एवं वस्तुओं को उराँव अपना गोत्र मानते हैं। उराँव समाज के अपने अनुष्ठान हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक एवं मृत्यु के बाद भी अनुष्ठानों का चक्र चलता रहता है। जब वह जन्म से लेकर मृत्यु तक के सभी अनुष्ठानों को करता है तब वह उराँव समाज का व्यक्ति कहलाता है। ईसाई मिशनरियों के आगमन के पश्चात् कई उराँव ईसाई हो गये। इससे उराँव समाज दो भागों में बँट गया। वे उराँव जो मूल रूप से अपने धर्मों में डटे रहे 'सरना' या 'अद्दी' धर्मावलम्बी हैं। जिन्होंने धर्म परिवर्तन किया वह ईसाई कहलाये। जनश्रुति के अनुसार रोहतास, छोटानागपुर में उराँव का शासन था, उन्हें चेरो–खरवारों ने बाद में युद्ध में पराजित किया। पराजित हो कुछ समूहों ने नर्मदा की घाटी की ओर से सोन जल क्षेत्र में प्रवेश किया और इस मार्ग से वह सोनभद्र के कई स्थानों पर फैले।

खद्दी (सरहुल)नृत्य– यह पर्व चैत्र महीने के शुक्ल पक्ष की तृतीया को मनाया जाता है। इसी दिन से इनका नया वर्श प्रारम्भ होता है। इस पर्व के पूर्व उराँव (धांगर) नये फल एवं सब्जी को ग्रहण नहीं करते और इस नियम का अत्यन्त कड़ाई के साथ पालन किया जाता है। जो इस धारणा को नहीं मानता उसे यह 'सतबोड़आ' कहते है तथा उनसे दूर रहते, यहाँ तक कि उनके यहां का खाना–पीना भी वर्जित होता है।

करमा नृत्य– खद्दी पर्व के पश्चात् यह उराँव धांगड़ जाति का दूसरा मुख्य त्योहार है। करमा शब्द 'क्' धातु से बना है जो करने का भावबोधक है। कर्म, काम, कर्मफल, भाग्य इसका पर्याय है। आदिवायी समाज पूरा का पूरा कर्म के सिद्धान्त पर ही अवलंबित है। करमा आदिवासियों के देवता हैं, करमा उनकी देवी भी हैं। यह ऋतु अथवा फसल गीत होने साथ ही साथ यह एक अनुष्ठान गीत है जिसमें आराधना के स्वर के साथ वन की हरीतिमा और शान्ति एकाकार हो जाती है। भाद्रपद में बो दिये जाने के बाद अनन्त चतुर्दशी के अवसर पर मादक चाँदनी राम में करमा का चौबीस घण्टे का आयोजन होता है। इसके पश्चात् होली के अवसर पर रबी की फसल तैयार होने पर खुशी में आदिवासी समाज झूम उठता है। इस प्रकार पहले करमा में पुरुषार्थ फले इसलिए तो दूसरे में पुरुषार्थ फला, फसल उगी इसलिए करमा किया जाता है। यहां करमा के विषय में मूल रूप से धांगर जाति के द्वारा किये जाने वाले करमा के बारे में बताते हुए अन्य जातियों के द्वारा किये जाने वाले करमा का भी उल्लेख किया जाएगा ताकि करमा के मूल को समझा जा सके।

देवकुमार जी ने लिखा है– 'करमा मूल रूप से घसिया या घासी लोगों का ही नृत्य गीत था। यह 'करमा' नाम पड़ने का कारण है 'करम' पेड़। करम पेड़ की डाल को जमीन में गाड़कर पूजा करने के बाद वे लोग नाचते और गाते थे। पहले यह पूजा–अर्चना बसंत पंचमी के दिन होती थी; और आस–पास संगीत–नृत्य भी चलता था। बाद में यह पूजा भादो में की जाने लगी। तदनन्तर, उसे अन्य जनजातियों ने अपना लिया और यह सबके आनन्द–उल्लास का गीत–नृत्य हो गया।

मिश्र जी के इस विचार पर डॉ0 अर्जुनदास केसरी जी अपना विचार रखते हुए कहते हैं कि यह तो ठीक है कि करमा घसिया जनजाति का ही नृत्य–गीत था; क्योंकि आज भी घसिया ही अधिक गाते–नाचते हैं और करमा का मुख्य वाद्य मादल भी वे ही बनाते हैं; किन्तु यह बात कि इसे बसंत पंचमी पर मनाया जाता था यह सही प्रतीत नहीं हो रहा है क्योंकि उराँव अथवा धांगड़ अपना करमा अनन्त चतुर्दशी पर गाते–नाचते हैं। और मैने जो अपने साक्षात्कार में पाया उसके अनुरूप भी यह अपना करमा अनन्त चतुर्दशी को ही करते हैं किन्तु इसमें जो कथा कही जाती है उसमें करमा को करने का समय एकादशी बताया गया है। सोनभद्र के दुबटिया गाँव में निवास करने वाले धांगर जितेन्द्र लकड़ा ने बताया की झारखंड में आज भी उनके भाई–बन्धु एकादशी के दिन करमा मनाते हैं। मिर्जापुर डिस्ट्रिक गजेटियर तथा 'वैरियर एलविन' की चर्चित पुस्तक 'द डान्स आफ इण्डिया' में भादो महीने मे करमा मनाये जाने का उल्लेख है। डॉ0 अर्जुनदास केसरी की पुस्तक करमा में भी जो गीत मिलता है उससे इसके भादो में होने की पुष्टी होती है–

भादो की रतिया हो नितिअंधियरिया हो
अइले करम के दीन।
आगे–आगे जाला बइगा हो बइगिन।
पीछे जवइया सब लोग।

बाद में दीवाली, दशहरा, होली तथा अन्य मंगल आयोजनों पर करमा के आयोजन की परंपरा प्रचलित हुई।

करम त्यौहार कई तरह का मनाया जाता है जिसमें जितिया करम, दसई करम, बूढ़ी करम तथा बाम्बा करम इत्यादि है। लेकिन इन सभी करम त्यौहारों को सभी जगह नहीं मनाया जाता है। सिर्फ राजी करम को सभी जगहों पर धूम–धाम से मनाया जाता है।

करमा : उत्पत्ति की कथा–

करमा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में मतभेद है किन्तु आदिवासी समाज में प्रचलित कथा इस प्रकार है–

एक राजा के चार लड़के थे– तीन बड़े थे और एक छोटा। छोटा भाई भौजाई के ताने से मारा–मारा फिरने लगा, किन्तु वह सत्यनिष्ठ और ईमानदार होने के कारण उसका सर्वत्र सम्मान भी होने लगा। उसे धन की कमी न थी, पर धन के प्रति अनासक्त था। उसके इस गुण से प्रसन्न होकर एक राजा ने उससे अपनी कन्या का विवाह कर दिया। वह सुखपूर्वक रहने लगा और बारह वर्ष का समय देखते ही देखते बीत गया।

इधर तीनों भाइयों की दशा दिन–प्रतिदिन खराब होने लगी। वे दाने–दाने को मोहताज हो गये। छोटे भाई ने राजकुमार के रूप में अपनी पत्नी के साथ अपने घर की ओर प्रस्थान किया तो गाँव के लोगों ने उसे दूर से ही देख कर सोचा, कोई राजा चढ़ाई करने आ रहा है। किन्तु जब वह निकट आ गया तो गाँव के लोग उस पहचान कर आनन्द विभोर हो गये। सम्पन्नता और विपन्नता के इस मिलन को ध्यान में रख कर नृत्य और गीत का वृहत् आयोजन किया गया जिसे करमा नाम दिया गया। करमा इसलिए क्योंकि छोटा भाई कर्मनिष्ठ था, उसने अपने अध्यवसाय, त्याग, लगन और ईमानदारी के बल पर यश कमाया। कर्मदेव की पूजा के कारण ही उसे यश प्राप्त हुआ था। वह कर्म एकादशी का दिन था इसलिए इस एकादशी सहित विजयादशमी, दीपावली, होली और अनन्त चतुर्दशी पर भी करमा मनाने की प्रथा चल पड़ी।

दूसरी कथा मिर्जापुर डिस्ट्रिक्ट ग़ज़ेटियर के अनुसार एक मझवार (गोंड) था। उसके सात लड़के थे जिनमें से छः नित्य प्रातः कमाने के लिए काम पर चले जाते थे। सातवां लड़का, जो सबसे छोटा था घर पर ही रह जाता और अपनी भाभियों से भोजन बनवाकर भाइयों को खिलाने के लिए काम पर ले जाता था। वह लौटते समय मार्ग में करमा (कदम वृक्ष) की डाल काट लाता और घर के सामने ज़मीन में गाड़कर अपनी छहों भाभियों के साथ हाथ मिलाकर नाचता था। एक दिन देर तक नाचते रहने के कारण भोजन पहुँचाने में भी उसे विलम्ब हो गयी तो बड़ा भाई अचानक आ धमका और सभी को नाचता देख क्रोध मे आकर उसने करमा डाल को उखाड़

कर पास के नदी में फेंक दिया। इससे दुःखी होकर छोटे भाई ने घर छोड़ दिया और नदी में बहती उस डाल को पकड़ने के लिए नदी में कूद पड़ा। तैरते–तैरते आगे बढ़ता और जब भी उस डाल को छूना चाहता, डाल से आवाज़ आती 'तुम पानी हो, मुझे नहीं छू सकते।' ऐसा सुनते हीं वह सहम जाता और फिर उसे किसी अज्ञात आत्मशक्ति से घर लौटने की प्रेरणा मिली और वह लौट गया। किन्तु तब तक घर की दशा बिल्कुल बिगड़ चुकी थी। सभी प्राणी दाने–दाने को मोहताज थे। छोटे भाई ने कहा– '' इस कष्ट का कारण है कर्मदेव के डाल का फेंका जाना, उनकी उपेक्षा करना है। हमें पुनः उनकी पूजा करनी चाहिए। इस प्रकार वह पूजा करने लगे और उनके दिन ठीक हो गये। तभी से करमा–पूजन की परम्परा चल पड़ी।

घसिया लोगों के अनुसार करमा की शुरूआत उन्हीं के बिरादरी के द्वारा हुई है। इस सम्बन्ध में तीसरी कथा इस प्रकार है–

डोम जाति सबसे निकृष्ट मानी जाती थी क्योंकि वे गाय खलियाते और बांस (वंश) काट कर सूप या डलिया बनाते थे। एक बार एक डोम आकर उनकी बस्ती में मर गया। वो डोम को छूते तो थे नहीं अब समस्या थी कि उसे फेंके कौन? पंचायत बैठी और उसमे फैसला किया गया कि शव को नदी में फेंका जाए और प्रार्थना की जाय कि नदी या समुद्र उन्हें पवित्र करे। ऐसा ही हुआ, शव फेंक कर स्नान करके प्रार्थना की गयी तो नदी या समुद्र में से डाल (कर्मदेव) उतरायी और आवाज आयी कि अब मुझे ले जाओ, आंगन या किसी सार्वजनिक स्थान पर गाड़ो, पूजा करो–कराओ, इसी को अपना देव मानो, तुम सब पवित्र हो जाओगे और सुखी सानंद भी रहोगे। तभी से करमा या कर्मदेव के पूजन की परम्परा चली।

सोनभद्र के दुबटिया गाँव में निवासित धांगड़ जाति के अनुसार करमा की कथा इस प्रकार है–

एक गाँव में ननका और ननकी दो परिवार रहते थे जिनको शादी किये हुए कई साल हो गये थे लेकिन उनको छऊआ पुत्ता (बेटा–बेटी) नहीं थे। इस कारण वह बहुत दुःखी रहते थे। एक रात जब वह सोये हुए थे तो ननका के सपने में धर्मेश बाबा अर्थात् प्रकृति के देवता आये और बोले की तुम्हारी इच्छा पूरी हो सकती है लेकिन इसके लिए तुम्हें करम के डाल को लाकर गाँव के अखरा में भादो एकादशी के दिन सच्चे मन से स्थापित कर उसकी पूजा–अर्चना करनी होगी। सुबह उठ कर ननका ने ननकी से यह सारी बात बतायी। उनके कथनानुसार उन लोगों ने पूरे गाँव को नौ दिन पहले जौ बांटकर अखरा में करम पूजा के लिए एकत्रित होने का न्योता दिया जिसमें कम–से–कम एक क्वारी डाल को अखरा में स्थापित कर उसकी पूजा करनी थी। ननका और ननकी ने उसी प्रकार पूजा–अर्चना की जिसके नौ माह बाद उन्हें जुड़वा संतान हुए जिनका नाम कर्मा और धर्मा रखा गया। बड़े होने के बाद कर्मा और धर्मा के गाँव में अकाल पड़ गया तब वह बाहर कमाने के लिए गये। कई वर्षों के बाद जब वह कुछ कमा लिए तो अपने गाँव वापस आने को सोचे। गाँव में आते समय वह बरगद के पेड़ के नीचे आराम करने लगे। सुबह कर्मा नित्य क्रिया के लिए जाता है तो वह अपने भाई धर्मा को अपने धन की रक्षा को बोल जाता है लेकिन कर्मा के जाने के बाद धर्मा के मन मे लालच आ जाता है और वह अपने भाई के धन में से कुछ धन चुरा लेता है। कर्मा के आने के पश्चात् दोनों भाई गाँव की ओर प्रस्थान करते हैं रास्ते में कर्मा को यह आभास होता है कि उसका धन कुछ कम हो गया है किन्तु वह सन्तोष कर भाई को कुछ नहीं बोलता और वह दोनों गाँव के समीप पहुँच कर अपने घर सूचना भेजवाते हैं कि वे आ गये हैं। उस दिन भादो की एकादशी होने के कारण लोग गाँव में करमा खेल रहे होते हैं। कुछ देर इन्तज़ार करने के बाद कर्मा ने अपने भाई धर्मा को ये देखने भेजा कि घर के लोग अभी तक क्यों नहीं आये। लेकिन जब धर्मा वहाँ पहुँचा तो वह भी उन लोगों के साथ मांदल पर झूमने लगा और सब कुछ भूल गया जिससे भाई कर्मा

यह सब देख क्रोधित हो गया और उसने अखरा में लगे करम डाल को उखाड़ कर नदी में फेंक दिया। इस घटना के बाद कर्मा दिन–ब–दिन गरीब होता गया और धर्मा अपने जीवन में सुखी। कुछ दिन बाद धांगड़ परम्परानुसार फसल बोने पर गाँव को भोजन कराने की परम्परानुसार वह सभी के साथ अपने भाई कर्मा को भी न्योता देता है किन्तु कर्मा उससे जलने लगता है और वह समय निकाल कर उसके खेत से बोये हुए धान को उखाड़ने लगता है लेकिन ऐसा करने के पश्चात् जब वह किनारे पर पहुँचता है तो वह देखता है कि धान तो यथा स्थान बोये हुए हैं जिससे वह और भी क्रोधित हो गया उसके बाद उसे भविष्यवाणी होती है कि तुम्हारी यह स्थिति करम डाल के अपमान से हुई है तुम उसी करम डाल को खोजकर अपने अखरा में गाड़ो और उसकी पूजा करो तो सब ठीक हो जायेगा। ऐसा सुनने के बाद वह उस करम डाल की खोज में निकल पड़ा। रास्ते मे उसे प्यास लगी तो जब वह पोखरे में पानी पीने गया तो पानी के उठाते ही उसमें कीड़े तैरने लगे जिससे वह उसे नहीं पी पाया । आगे जाने पर भूख लगने पर वह बेर के पेड़ से बेर तोड़ा लेकिन उसमें भी पिल्लू होने के कारण वह नहीं खा पाया। फिर आगे गया जहां एक महतआइन चूड़ा कूट रही थी उससे चूड़ा मांगने पर उसने कहा कि मै कब से प्रयास कर रहीं हूँ लेकिन यह चूड़ा कूटा ही नहीं रहा है। फिर वह मायूस हो आगे चल पड़ा । रास्ते में उसे एक मगर मिला जिससे उसने करम डाल के बारे में पूछा तो उसने बताया कि नदी के उस पास करम डाल है जहाँ तुम्हें कछुआ पहुँचा सकता है वह आगे जाकर कछुए से बिनती करने लगा तो कछुए ने उसे अपने पीठ पर बैठा कर नदी पार करायी जहां से उसने करम डाल से क्षमा मांगी और उन्हें अपने साथ ले कर चलने लगा। जब वह पुनः मगर के पास पहुँचा तो करम डाल ने मगर से पूछा की जब करमाईत लोग पूजा के बाद मुझे विसर्जित करने नदी पर आती है तो तुम उन्हें क्यों खींचते हो उनके पैर खींचते हो । अगर तुम आगे से ऐसा नहीं करोगे तो तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी। आगे बढ़ने पर इसी तरह महतआईन भी अपनी व्यथा करम डाल को बताती है जिसपर वह उन्हें करमाईत लोगों के द्वारा चूड़ा मांगने पर उन्हें देने की बात कहते हैं। इसी प्रकार आगे चलकर वह बैर के मालिक को भी उपाय बताते हैं और यह सब करते–करते भादो की एकादशी आ जाती है जिसपर वह अपने अखरा में करम डाल को स्थापित कर उनकी पूजा–अर्चना करते हैं और उनके भी दिन संवर जाते हैं। तभी से कर्मा–धर्मा की कथा के आधार पर धांगरों में करमा करने की प्रथा शुरू हुई और रास्ते में जिन जानवरों इत्यादि ने उनकी मदद की उसके आधार पर उनका गोत्र बना।

करमा पूजा की विधि– सोनभद्र के दुबटिया गाँव में आयोजित राजी कर्मा पर्व में किये गये विधानों के आधार पर यहाँ करमा के बारे में विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। उराँव संस्कृति के आधार पर यह पर्व भाई–बहन के आपसी प्यार एवं उनके दीर्घ आयु के लिए किया जाता है। इस पूजा की शुरूआत भाद्रपद की प्रतिपदा के दिन से ही हो जाती है इस दिन जौ की जई को मिट्टी में जमाया जाता है जिसके ग्यारह दिन के बाद एकादशी तिथि के दिन इस करमा पर्व का आयोजन किया जाता है किन्तु सोनभद्र में रहने वाले उराँव इसे अनन्त चर्तुदशी को मनाते हैं। करमा पर्व में जो कुँवारी कन्याएँ व्रत रखती हैं उन्हें करमाईत कहते हैं। यह करमाईत उस दिन सुबह अपनी मनोकामना की सिद्धि हेतु व्रत रखती हैं। करमा हेतु गाँव के अखरा में एक मंडप का निर्माण किया जाता है जहाँ यह पूजा सम्पन्न होती है। शाम के समय कुछ युवक अथवा वह कन्याएँ जो व्रत की होती हैं वह मांदल की थाप के साथ करम अर्थात् कदम्ब के वृक्ष की डाल को लाने के लिए जाती है इनके साथ एक बैगा और इनका महतो जो इनके समाज का मुखिया होता है वह भी जाता है। 'कदम्ब को 'सिद्ध' भी कहते हैं और विश्वास है कि उसकी पूजा से हर कार्य सिद्ध होता है, यह वृक्ष विशाल शीतल छाया वाला जिसके फूल पीले रंग के होते हैं तथा पत्ते बड़े–बड़े व सुन्दर होते हैं।' वह कैमूर की पहाड़ी के नीचे बसे जंगलों

में से तीन, पाँच या सात डाल को काटते हैं । इन टहनियों को काटने के पूर्व वहाँ उपस्थित बैगा उस वृक्ष की महुआ के शराब से पूजा करता है एवं उनसे इसे काटने की अनुमति मांगता है जिसके पश्चात् वह अपनी परम्परानुसार प्रत्येक डाल को एक बार (छेव) में काटता है। इन टहनियों को काटने के पश्चात् पुनः मांदल की थाप पर अखरा में ले जाया जाता है और इस पूरे रास्ते में इन टहनियों को कहीं भी ज़मीन पर नहीं रखा जाता है। अखरा में पहँचने के पश्चात् यदि पुरुष उन टहनियों को लाये हैं तो कुँवारी कन्याओं को सुपुर्द कर देते है जिसके पश्चात् ये कन्याएँ गीत गाते हुए अखरा में बने मंडप के चारों ओर उन टहनियों को लेकर पाँच बार घूमती हैं जिसके पश्चात् मंडप में बैठे बैगा के द्वारा उसे स्थापित किया जाता है। स्थापना के लिए महतो उस मंडप में एक गढ्ढा खोदता है जिसमें उस करम डाल को गाढा जाता है जिसके बाद बैगा उस डाल की गुड़, घी एवं अगरबत्ती के द्वारा पूजा करता है । साथ ही, उसमें महुए की शराब चढ़ाई जाती है। इसी क्रम में करमाईत सभी पूजा की सामग्री को अपने साथ लेकर मंडप में आती हैं जहां बैगा के द्वारा करमा की कहानी सुनायी जाती है। कहानी सुनाते समय महतो की पत्नी महताईन बैगा के बगल में खड़ी होकर हुंकारी भरती रहती है। करमाईत लोग पूजा के दौरान सिंदूर, बिन्दी, फल–फूल, माला इत्यादि चढ़ाती हैं। इस प्रकार पूजा समाप्त होने पर रात भर उस अखरा को सूना नहीं रखा जाता । अतः सभी मिलकर करमा नृत्य (खेलते) करते हैं। (जितेन्द्र लकड़ा के अनुसार पहले उनके समाज में यदि कोई लड़की किसी लड़के से विवाह करना चाहती थी तो इस करमा नृत्य के दौरान वह नृत्य करते हुए उस लड़के को अपने पैरों से मार देती थी जिसके पश्चात् कन्या पक्ष के लोग वर पक्ष के पास जाकर विवाह का निर्धारण करते थे।) दूसरी सुबह नृत्य की समाप्ति पर बैगा द्वारा पुनः करम के डाल की पूजा की जाती है तथा गाँव की स्त्रियाँ अपने घर में बोई हुई जई को लाकर चढ़ाती हैं जिसके बाद महतो उस डाल को निकाल कर कुंवारी कन्याओं के हाथ में दे देता है। जिसके बाद ये कन्याएँ उस मंडप के चारों ओर पांच बार परिक्रमा लगाती हैं। इस परिक्रमा के बाद यह कन्याएँ उस गाँव के चौधरी, महतो व अन्य के घर करम वृक्ष को लेकर मांदल की ध्वनि पर नृत्य करते हुए जाती हैं। किसी के घर जाते समय वह गाती हैं–

अछत–पूछत हम आईल
कौन है कौन है महतो दुअरिया....

महतो अथवा चौधरी के घर पहुँचने पर उनके घर की स्त्रियां कमर के डाल को सिंदूर से टीका करती है जिसपर कन्याएं उनका आंचल पकड़कर उनके नेग मांगती हैं और नेग देने पर ही वह आंचल छोड़ती हैं। नेग देने के पश्चात् घर की स्त्री उस करम के डाल को घर में किसी ऊँचे स्थान पर रख देती हैं और मांदल वादक को महुऐ की शराब प्रसाद के रुप में देती हैं। जिसके बाद वह उन कन्याओं के साथ अपने घर के आंगन में करमा खेलती है। यह क्रम प्रत्येक के घर में दोहराया जाता है और अन्त में महतो एवं मांदल वादक उन कन्याओं के साथ जाकर किसी नदी या पोखरे में उस करम के डाल का विर्सजन करता है। घर के बड़े बुजुर्ग खेतों में भेलवा या सिन्दवार की डाली गाड़ते हैं जिसके पीछे उनकी धारणा और विश्वास यह है कि फसल में कीटाणु नहीं लगेंगे एवं किसी प्रकार का नुकसान नहीं होगा।

करमा नृत्य करने का तरीका– करमा आयोजन केवल एक नृत्य परंपरा नहीं है वरन् यह धरती का सम्पूर्ण श्रृंगार इन मौलिक क्षणों में समेटे आराधना के सहज क्षणों का भाव प्रकाशन है। हाथ में मांदल और पैरों में पैरी (धांगरों का पैजम) पहन कर देवता के प्रतीक करमडाल के सामने आदिवासी अपनी सुध–बुध खो बैठता है। मांदल के थाप के साथ लय में पैरों का संचालन होता है। मण्डलाकार में खड़े स्त्री–पुरूष गीत को गाते हुए अपने पैरों को चलाते रहते हैं। इसकी शुरूआत में मांदल लिए समूह मांदल की थाप पर एक गीत की शुरूआत करते हैं जिसे उनके विपरीत में खड़ी स्त्रियों का मंडलाकार समूह अपने पैरों को चलाते हुए

गीत को दोहराती है। नृत्य कर रहे स्त्री–पुरूष अपने हाथों को एक–दूसरे से बिल्कुल गूंथे हुए रूप में पकड़े रहते हैं। धीरे–धीरे मांदल, नृत्य और दोनों का उन्माद चरम पर जब पहुँचने लगता है तब मांदल वादक और नर्तको के बीच एक होड़ दिखाई देने लगती है। मांदल वादक वादन के साथ नृत्य करते हुए कठिन लयों को दर्शाता है जिसपर वह स्त्रियाँ को नृत्य के बीच उनके चलते पैरों को फंसाने की कोशिश करता है और वह मंडलाकार स्त्रियां उनसे बचने का प्रयास करती हैं। इस प्रकार उसमें विभिन्न प्रकार से पैरों को संचालित कर रात भर यह क्रम चलता रहता है।

करमा के प्रकार– करमा को उसकी जातीय प्रस्तुति के आधार पर विभिन्न नाम दिया गया है या यों कहें कि यह उनके प्रकार हैं, यथा– जब इसे धांगड़ नाचते हैं तो यह 'धांगरी' करमा, घसिया के द्वारा किये जाने पर यह 'घसियारी' करमा, अगरिया के द्वारा नाचने पर 'अगरही' करमा, जब धरकार नाचते हैं तो 'धरकहरी' करमा, विशेषरूप से जब स्त्रियां करमा नाचती हैं तो उसे 'झूमर' करमा कहते हैं। स्त्रियों को बाजा बजाकर नाचते नहीं देखा गया है। कोल भी प्रायः करमा नहीं करते हैं, उनके कोलदहकी–कोलदादर पर करमा का असर भले हो।

करमा का तुलनात्मक अध्ययन – इस तालिका में है।

क्रमांक	जाति का नाम	टवसर	पूजा	पूजोपकरण
1	धांगर	अनन्त चतुर्दशी	करमदेव	करमडांड (सिध)
2	घसिया	मांगलिक अवसर, होली, दीवाली, दशहरा, नवरात्र	करमदेव, करमादेवी	करमडांड (सिध) गुरदम
3	खरवार	भाद्रपद एकादशी, चैत्र रामनवमी	देवी–पूजा विंध्यवासिनी	गुरदम, गुड़ घी, शाकला
4	अगरिया	शिवरात्रि, रामनवमी, नवरात्र	ज्वालामुखी देवी (शक्तिनगर रोड), बंसरादेवी (गोठानी) मइहर भवानी	गुरदम, गुड़ घी, तीर–कमान
5	धरकार	नवरात्र, होली, दीवाली, दशहरा,	दुल्हादेव, करमदेव	डफला, शहनाई, बांसुरी, निशान
6	भुइंहार	होली, दीपावली, दशहरा	इष्टदेव	मदल, ढोल
7	पठारी	दशहरा, दीपावली, नवरात्र	कर्मदेव	मिलाजुला

करमा के वस्त्र व आभूषण– सोनभद्र में धांगर जाति के द्वारा मनाये गये राजी करम पर्व पर उनके द्वारा पहने हुए परिधान में जो कन्याएँ पूजा करने के लिए आई थीं वह सफेद रंग की साड़ी पहनती जिसका किनारा लाल रंग का था। पूजा के पश्चात वह उसी परिधान में करमा नृत्य करती हैं बस अन्तर यह होता है कि वह अपनी साड़ी को थोड़ा ऊपर करके बांधती हैं जिसके पीछे कारण पैरों का संचालन आसानी से हो सके तथा पुरूष जो मांदल का वादन कर रहे थे वह ऊंची धोती तथा कुर्ता पहने हुए थे। यद्यपि देख कर ऐसा प्रतीत नहीं हुआ कि वह मात्र करमा नाच में शामिल होने के लिए कोई मुख्य वस्त्र या आभूषण पहन कर ही करमा करते हों। इन कन्याओं के अतिरिक्त जो स्त्रियां करमा में धीरे–धीरे सम्मिलित होते जा रहीं थीं वह सामान्य साड़ी पहने थीं तथा युवक अपनी इच्छानुसार वस्त्र पहने हुए थे।

लुप्त होते करमा के वस्त्राभूषण– आधुनिकता हर जगह अपनी पैर को पसारे हुए है और आज हर व्यक्ति का हक है कि वह अपनी ज़रूरत को, अपने शौक को पूरा करे। शायद इन कारणों से और जनजातियों की आर्थिक स्थिति के कारण भी इनके वस्त्राभूषणों में बदलाव देखे जा सकते हैं।

किनारादार लुग्गा– लुग्गा गाँव का शब्द है जिसका अर्थ सफेद साड़ी होता है जिसका किनारा बारीक सूत या रेशम के धागे से कढ़ाई करके बनाया जाता था। यह किनारा मोरपंखी और हरे रंग का होता था। पनिका आदिवासी कपास और रेशम की खेती से लेकर बारीक से बारीक ऐसे कपड़े तैयार करते थे जो अंगूठी से थान के थान निकाल लिए जाते थे। जो अब कहीं नहीं बनता है।

बांड़ी– बांड़ी अब बंडी हो गया है। पहले आदिवासी मारकीन कपड़े का इसे दोहरा सिलवाते थे। बांड़ी कमर तक होती है और आधे अथवा पूरे बांह को ढके रहती है। इसका गला खुला लेकिन लाल अथवा हरे रंग के कपड़े से गोटेदार बनी होती है। यह शरीर को ढके ढीली–ढाली होती है।

कुर्ती– यह पुरूषों के द्वारा पहने जाने वाली कमर के नीचे तक, आधी बांह की मारकीन से बनी होती थी। यह कुर्ती मिर्जयी की तरह सिली जाती थी।

काड़ा– यह गीलट या चाँदी का बना होता था जिसे दोनों पाँवों में पहना जाता था। यह कितना भी वजनी हो सकता था । यह पहनने वाली स्त्री की सेहत व आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता था। तब गाँव का सोनार इसे ढाल या गढ़ कर इसे बना देता था जिसपर नृत्य–संगीत के दृश्य, पशु–पक्षी, जीव–जन्तु इत्यादि बने होते थे और इसका मुँह मगर, मछली, शेर की मुखाकृति का होता था।

छाड़ा– यह भी गीलट या चांदी का नक्काशीदार होता था जिसे काड़ के साथ पाँच–दस की संख्या में पहनते थे। नृत्य के दौरान जब यह एक–दूसरे से टकराते थे तो अत्यन्त मनमोहक ध्वनि निकलती थी।

बेलवरिया– यह कड़ा का पुराना नाम है। यह चाँदी, गीलट अथवा घांस (बगई) फूस का बना होता था। यह इतना मोटा व वजनी होता था कि इसके प्रहार से व्यक्ति घायल हो सकता था।

बाजूबंद, बरेखी, पहुँची– यह हाथ के बीच के मोड़ पर पहने जाने वाले आभूषण थे जो चिपटे, गोल आकार के नक्काशीदार होते थे। यह भी गीलट अथवा चाँदी के होते थे।

हंसुली और हैकत– हंसुली और हैकल स्त्रियों के गले में पहना जाने वाला गीलट या चाँदी का आभूषण है। हंसुली सोना और चाँदी की और हैकल पुराने सिक्कों को गूंथ कर बनायी जाती थी। हंसुली पर नृत्य–संगीत, वाद्य के अलावा देवी–देवताओं, प्रकृति के उपादनों की खुदायी की जाती थी।

घुमुची की माला– घुमुची वन में पायी जाने वाली एक लतर है जिसमें गुच्छे के गुच्छे फलियां लगती हैं। यह लाल और मुखपर काले रंग का छोटी मटर के आकार का होता है। इसकी माला बहुत सुन्दर लगती है। घुमुची के अभाव में अब वन–तुलसी के डंठल की माला पहनी जाने लगी है। इसे गूंथ कर सिरबंदी के रूप में भी पहना जाता है।

कनफूल– कनफूल या ऐरन सोने या चाँदी का बना झब्बेदार, नक्काशीदार, लच्चीदार होता था।

बेड़ी– इसमें स्त्रियां विभिन्न प्रकार से अपने बेड़ी का सजाती थीं जैसे वनफूल, पलाश के टेसू, बेला, आम्र–मंजरी आदि।

नकबुल्ली, नकबेसर, नथुनी, बुलाक– यह नाक में पहनने के आभूषण है। बुलाक पत्ती वाला आभूषण है तो नकबुल्ली बिना पत्तीवाला, नीचे तक झूलने वाला, नथिया–नथुनी नाक के एक ही ओर नाक में पहनी जाती है। नकबुल्ली होठों को स्पर्श करती

हुई होती है।

डरखर या कमरपेटी– यह कमर में पुरूष कलाकार द्वारा पहना जाता है। चाम अथवा सनई की मोटी पेटी पर एक सौ तक की संख्या में छोटी–छोटी घण्टियाँ गूथी जाती हैं। घण्टी के अभाव में कौड़ी भी यदाकदा गूंथ दी जाती है।

पैरी– यह पैरों में पहना जाने वाला एक वृत्ताकार खोखला कड़ा होता है जिसमें लोहे की गोलियां या कंकड़ भरे रहते हैं। यह लोहा, तांबा, पीतल, कांसा का बना होता है जिसे पहले अगरिया जनजाति के शिल्पी बनाते थे। इसमें से प्रत्येक का वजन ढाई सौ ग्राम तक होता है और पाँच तक की संख्या में एक पाँव में पहना जाता है। इन दोनों वाद्ययंत्रों को मोची जाति के कलाकार नटुआ नाचते समय भी पहनते हैं। इससे ऐसा लगता है कि नटुआ और करमा में आरम्भ से ही सामंजस्य रहा है। डरखर को नटुआ कलाकार 'कसनहटी' कहते हैं।

करमा में प्रयुक्त वाद्य यंत्र– धांगर जाति के द्वारा करमा में प्रयुक्त किए जाने वाले प्रमुख वाद्ययंत्रों में मादल है।

मादल– मादल घसिया जनजाति के हाथ से बनाया जाने वाला करमा का अनिवार्य वाद्ययंत्र है। इसे कच्ची, पक्की मिट्टी, काठ या सबके अभाव में लोहे की पत्ती से भी बनाया जाने लगा है। इसकी सबसे मधुर आवाज कच्ची मिट्टी की होती है। मिट्टी को गोलाकार करके उसमें सनई की लुब्दी बनाकर खूब माड़ा जाता है, फिर हाथ से लम्बी ढोल का आकार दिया जाता है। छाया में उसे सुखाया जाता है, फिर बकरी–बकरे की खाल को सिझाकर आधा इंच से कुछ कम चौड़ी लम्बी पत्ती 'बांकी' नामक औजार से बनायी जाती है। उसे लाल रंग से रंगा जाता है। फिर दोनों मुहकुड़ों पर गोलाकार मुरेरा लगाकर उसमें फंसा कर इस कदर मढ़ा जाता है कि मिट्टी दिखलाई ही नहीं पड़ती। मुहंकुड़ों पर भी बकरे का ही चमड़ा मढ़ा जाता है। अब मटखाने की कंकड़ी, भात और कुछ मसाला एक में कूट कर दोनों मुहंकुड़ों पर लगाया जाता है। दोनों मुहंकुड़ों से दो तरह के मसाले के कारण दो तरह की आवाज़ आती है।

डॉ0 रमेशचन्द्र पाण्डेय ने मादल की विभिन्न श्रेणियों के बारे में लिखा है– जशपुरिया मादल (खोल चौड़े भाग की ओर थोड़ी दूर पर उभरा रहता है।), खड़िया मादल (कुछ कम उभरा रहता है), उरॉव मादल (हल्का तिरछा होता है और अगला भाग लगभग एक इंच खोल के अन्दर रहता है।), संथाली मादल (चौड़े और पतले भाग में काफी तिरछा होता है), हो मादल संथाली मादल से थोड़ा छोटा और थोड़ा कम तिरछा रहता है। मुवी या थेन्चली मादल की लम्बाई सबसे कम होती है।

गुरमद– यह अगरिया जनजाति द्वारा बनाया जाने वाला लोहे का गांठदार 2 से 5 किग्रा वजन वाला पूजा यंत्र होता है। इसमें ऊपर एक गोलाकार रिंग होता है।

बाना– यह भी अगरिया द्वारा बनाया हुआ लोहे का बना तीर के आकार का तीखा छड़ होता है। जो लगभग एक से दो फीट लम्बा त्रिशूल के आकार का यह यंत्र देवी के इष्ट होने पर प्रयुक्त होता है।

शहनाई या बांसुरी– मात्र धरकार जाति के द्वारा करमा में इन वाद्यों का प्रयोग होता है। अन्य जातियाँ इसका प्रयोग अपने करमा में नहीं करते हैं।

बदलाव– करमा में बदलाव की बात करें तो इसपर भी आधुनिकता का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान में न तो वे अपने पारम्परिक वस्त्र को धारण करते हैं जिससे उनकी अपनी पहचान लुप्त होती जा रही है। उरांव अथवा धांगर जाति के द्वारा आयोजित राजी करम समारोह मे गाये जाने गीतो में उनकी भाषा का उपयोग न होकर भोजपुरी भाषा का प्रयोग हो रहा था। साथ ही, झारखंड का करमा प्रसिद्ध होने के कारण मंच पर जब प्रस्तुति होती है तो उत्तर प्रदेश के कलाकार

द्वारा भी उनके वस्त्राभूषण की नकल की जाती है न कि वे अपने परिधान को धारण करते हैं। मंच पर आने के कारण कई बार इसमें कुछ ऐसे बदलाव अनभिज्ञता के कारण कर दिये जाते हैं जो औचित्यपूर्ण नहीं होते।

धांगड़ जाति की वर्तमान समस्या– मेरे द्वारा धांगर जनजाति के करमा में सम्मिलित होने पर दिखाई दिया कि नवयुवक न तो अपनी भाषा के प्रति जागरूक हैं न अपनी संस्कृति के प्रति जो उस जनजाति की एक समस्या बनती जा रही है। वह करमा के गीत को न याद कर मात्र डीजे पर नृत्य कर रहे थे जो स्वयं उस जनजाति द्वारा उनकी संस्कृति के लिए संकट उत्पन्न कर रहा है। आज यह जाति अपने मूल ज़रूरतों के लिए भी संघर्षरत है जिसके कारण भी वह मात्र अपने भरण–पोषण पर ध्यान केन्द्रित कर रही है।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

पिपुल ऑफ इंडिया, उत्तर प्रदेश, भाग एक, के.एस. सिंह।

द स्पेक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रीलीजन इन बिहार, डॉ. करमा उराँव।

द स्पेक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रीलीजन इन बिहार, डॉ. के. एस. सिंह।

द वाइल्ड ट्राइब इन इंडिया, एच. बी. रौनी।

द वाइल्ड ट्राइब इन इंडिया, ए. बी. षरण।

कुडुख ग्रामर इन इंडिया, एफ. हान।

ट्राइबल एंड देयर कस्टम ऑफ द सेन्ट्रल प्रोविन्सेंस, रसैल एवं हीरालाल।

उराँव संस्कृति : परिवर्तन एवं दिशाएं। डॉ शान्ति ख़लख़ो।

करमा, डॉ. अर्जुनदास केसरी

करमा संस्कृति और संगीत, डॉ. अर्जुनदास केसरी

वनांजलि सन् 2004 'वनवासी समाज के प्रमुख वाद्ययंत्र

करमा, नृत्य–गीत, परम्परा व उत्सव, डॉ. संजय चतुर्वेदी।

उत्तर प्रदेश की जनजातियाँ, अमीर हसन

नाचता गाता पहाड़, डॉ. अर्जुनदास केसरी

आदिवासी जीवन, डॉ. अर्जुनदास केसरी

सोन वैभव, स्मारिका, 2010

संदर्भ सूची–

1. सिंह, के. एस., पिपुल ऑफ इंडिया, उत्तर प्रदेश भाग एक, पृ.सं. 426
2. उराँव, डॉ. करमा, द स्पेक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रीलीजन इन बिहार, पृ.सं. 13
3. सिंह, डॉ. के. एस., द स्पेक्ट्रम ऑफ ट्राइबल रीलीजन इन बिहार, पृ.सं. 952
4. रौनी, एच. बी., द वाइल्ड ट्राइब इन इंडिया, पृ.सं. 78
5. शरण, ए. बी., द वाइल्ड ट्राइब इन इंडिया, पृ.सं. 28
6. हान, एफ., कुडुख ग्रामर इन इंडिया, पृ.सं. 6
7. रसैल एवं हीरालाल, ट्राइबल एंड देयर कस्टम ऑफ द सेन्ट्रल प्रोविन्सेंस, पृ.सं. 300
8. ख़लख़ो, डॉ. शान्ति, उराँव संस्कृति : परिवर्तन एवं दिशाएँ, पृ.सं. 23
9. वही, पृ.सं. 31
10. वही, पृ.सं. 110डॉ. शान्ति,
11. केसरी, डॉ. अर्जुनदास, करमा, पृ.सं. 17
12. केसरी, डॉ. अर्जुनदास, करमा संस्कृति और संगीत, पृ.सं. 68
13. लेखिका के द्वारा स्वयं धांगर जाति द्वारा सुनायी गई कथा के आधार पर
14. केसरी, डॉ. अर्जुनदास, करमा संस्कृति और संगीत, पृ.सं. 25
15. लेखिका के द्वारा स्वयं देखी गई विधि के आधार पर
16. केसरी, डॉ. अर्जुनदास, करमा संस्कृति और संगीत, पृ.सं. 88
17. वही, पृ.सं. 89
18. वही, पृ.सं. 96
19. वनवासी समाज के प्रमुख वाद्ययंत्र, वनांजलि, सन् 2004, पृ.सं. 14

पंजाब का लोक संगीत एवं लोक वाद्य

–भुवन चंद्र शर्मा*

लोक संगीत किसी भी संस्कृति एवं जनसाधारण के हृदय में स्थित भावनाओं की अभिव्यक्ति का सरलतम माध्यम है। मानव के हृदय का रंजन करने वाली सभी कलाएँ मानव हृदय की अनुभूतियों से सम्बंधित होती हैं, मानव मन के दुःख–सुख के स्पन्दन द्वारा ही इन कलाओं को अपना अस्तित्व प्राप्त होता है।

लोक संगीत एक विश्वव्यापी भाषा है । संसार का प्रत्येक जीव लोक संगीत से रंजन प्राप्त करता है । प्रत्येक समाज की अपनी–अपनी सभ्यता एवं संस्कृति होती है । लोक संगीत से प्रत्येक प्रान्त का रहन–सहन, भाषा तथा पहनावे के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। प्रत्येक प्रान्त का लोक संगीत विभिन्न रूपों में प्राप्त होता है तथा प्रत्येक क्षेत्र का अपना स्वतन्त्र लोक संगीत होता है। लोक संगीत बोलीगत विशेषताओं तथा प्रायः जातिय, धर्म तथा व्यवसायगत आधारों पर अगणित स्वरूप धारण करता है।

भारत का प्रत्येक प्रांत अपने विशिष्ट लोक संगीत में धनी है लेकिन पंजाब प्रांत का लोक संगीत अपनी विशेषताओं के कारण समस्त भारत के गले का हार बना हुआ है। पंजाबी हीर अपनी विशेष हृदयस्पर्शी स्वर–संगतियों के कारण भाषा की सीमाओं की अपेक्षा समस्त भारत में लोकप्रिय है। इसकी लोकप्रियता के कारण इसे फिल्म संगीत में भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ और भाषा की दृष्टि से कतिपय चलचित्र में पंजाबी हीर का हिंदी रूपांतरण किए जाने पर भी धुन की शुद्धता की रक्षा करना अपेक्षित समझा गया।

मुख्य शब्द : लोक, गीत, संगीत, पंजाब, लोक वाद्य

'लोक' वह जन समुदाय है जहाँ व्यक्ति का जीवन व्यापक चेतना के एक सम स्तर पर आंदोलित होता रहता है। लोक शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से होता चला आ रहा है। इस शब्द की उत्पति संस्कृत के "लोक धातु" से हुई है। लोक संगीत का शाब्दिक अर्थ "देखना" माना जाता है। अतः लोक शब्द का मूल अर्थ हुआ "देखने वाला"। वह समस्त जन समुदाय जो इस क्रिया को करता है "लोक" कहलाता है।[1]

ऋग्वेद में "देहि लोकम" कहकर इसे स्थान के लिए प्रयुक्त किया जाता था। विभिन्न शब्दों में स्वर्गलोक, परलोक इत्यादि के रूप में इसका प्रयोग हुआ है । दूसरी ओर, सामान्य जनसमुदाय के लिए भी इसका प्रयोग हुआ है। भारतीय परम्परानुसार लोक एवं वेद शब्दों की पृथक्ता मिलती है जिसे लौकिक परम्परा एवं वैदिक परम्परा की संज्ञा के अभिहित किया गया है। श्रीमद्भागवत गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है–

"अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।[2]

गीता में लोक शास्त्र एवं अलौकिक आचारों को महत्वपूर्ण बतलाया गया है।

शब्दकोश के अनुसार "लोक" शब्द के कई अर्थ हैं जैसे "स्थान" विशेष जिसका बोध प्राणी हो, संसार, प्रदेश, जन या लोग, समाज, प्राणी, यश परन्तु लोग के दो अर्थ विशेष रूप से प्रचलित हैं – एक तो स्थान विशेष के रूप में जैसे उपनिषदों में दो लोक माने गए हैं। – इंद्रलोक और परलोक । निरुक्त में तीन लोक माने गए हैं – पृथ्वी लोक, अंतरिक्ष लोक और भूलोक। पौराणिक काल में सात लोकों का उल्लेख मिलता है, भूलोक, भुवलोक, स्वलोक, जनलोक, तपलोग तथा सत्यलोक अथवा ब्रह्मलोक। परन्तु यहां हम देखते हैं कि लोक का

*शोधार्थी, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़

अपना निजी अस्तित्व गौण है यहां यह केवल प्रत्यय के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[3]

संगीत के साथ जुड़ा हुआ लोक शब्द का प्रयोग नया नहीं है। इस शब्द की व्युतपति के विषय में मतभेद हैं। यह शब्द ऋग्वेद से ही प्रयोग में लाया जा रहा था। "ऋग्वेद और अथर्ववेद में इस लोक शब्द का प्रयोग दो अर्थों में" दिव्य और पार्थिव के रूप से किया गया है लोकापतादर्शन का "लोक शब्द भी दर्शन के क्षेत्र में एक विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत करता है।

भरतमुनि के "नाट्यशास्त्र" में भी "लोग, धर्म प्रकृति की चर्चा है। मतंगमुनि कृत "बृहदेशी में भी "लोकानां नरेन्द्राणा" उल्लेख हुआ है।

महाकवि तुलसीदास जी ने भी लोक शब्द का प्रयोग किया है।

—लोकहु वेड सुसाहिब रीती विन्य सुनत पहचानत रीती।

अपने सामान्य रूप में लोक शब्द सामान्य जन समुदाय के लिए प्रयुक्त होता रहा है। सामान्य जन समुदाय के भाव को ध्यान में रखते हुए डॉक्टर सत्येंद्र का कहना है कि "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है और जो एक परंपरा के प्रवाह में जीवित रहता है। इसमें उन्होंने उस ग्रामीण समुदाय की ओर संकेत किया है जिसमें विद्वता का अभाव है और परंपरा प्राप्त संस्कार ही जिनके ज्ञान की धरोहर है।

"फोक" शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है— व्यापक एवं सीमित। व्यापक अर्थ में इसे प्राणी मात्र के लिए प्रयुक्त किया जाता है लेकिन सामान्य व्यवहार में इसे गांव के अशिक्षित अथवा अर्द्ध शिक्षित जनसाधारण के लिए प्रयोग में लाया जाता है।

पंजाब का लोक संगीत

पंजाब के लोक संगीत में भी 3 कलाएं गायन वादन एवं नृत्य सम्मिलित हैं जिन से जनमानस का मनोरंजन होता है तथा विशेष अवसरों पर जिनका आयोजन होता है।

पंजाब के लोकगीत

लोक गीतों की लोकप्रियता कभी भी ह्रास को प्राप्त नहीं होती, चाहे जातियों के जीवन में उतार—चढ़ाव आए, इन लोकगीतों का रंग—रूप उसी प्रकार नया ही रहता है। पंजाब हिंदुस्तान का एक बहुत ही खूबसूरत और प्रफुल्लित इलाका है। यहां बहुत ही सुंदर और आकर्षक प्राकृतिक नजारे हैं और भिन्न—भिन्न प्रकार के मौसम हैं । किसी भी देश की सभ्यता एवं संस्कृति उसके लोकगीतों में निहित होती है।

पंजाब के लोक वाद्यों का वर्गीकरण :

नाद महासागर की भांति भारतीय वाद्यों की संख्या भी अनंत है। भारतीय वाद्य संगीत में वाद्यों के वर्गीकरण के इतिहास को प्राचीनतम कहना अतिशयोक्ति न होगा। वाद्यों की हजारों वर्ष प्राचीन समृद्ध परंपरा का का अनुमान हम प्राचीन ग्रंथों तथा उस समय के प्रचलित वाद्यों से कर सकते हैं।

पूर्ववर्ती वैदिक कालीन एवं उसके परवर्ती साहित्य के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि यहां चारों वर्ग के वाद्य विपुल संख्या में उपलब्ध थे। इनका प्रयोग सामाजिक अवसरों पर किया जाता था। यद्यपि वैदिक काल के वाद्यों का वर्णन संक्षिप्त है परंतु इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उक्त काल में चतुर्विध वाद्यों का विकास हो चुका था। सामगान में ताल की संगति के लिए प्रारंभ में दुंदुभी नामक चर्म वाद्य का प्रयोग होता था। वैदिक युग में तंतु वाद्यों के नाम "हिरण्यकेशी सूत्र" में प्राप्त हैं जिसके आधार पर ताल्लुक वीणा, कांड वीणा, अलाबु वीणा, कपिशीर्ष वीणा की गणना की जा सकती है। सुषिर वाद्यों में गोधा, नाली, तूणव के नाम प्राप्त होते हैं। इस समय घन वाद्य मुख्यतः लोक संगीत में प्रयुक्त होते थे।

रामायण काल में भी वीणा तथा मृदंग पर नृत्य

की संगति होती थी । रामायण काल में विपंची, मत कोकिला वीणा, दुंदुभी, मृदंग, पणव, डिमडिम, मंडूक, आडंबर जैसे वाद्यों का उल्लेख प्राप्त हैं।

पंजाब में लोक वाद्यों की वादन–शैली

पंजाब एक संपन्न प्रांत है। इस प्रांत को हिंदुस्तान का सिंह द्वार कहा जाता है। पंजाब प्रांत को अनेक युद्धों का सामना करना पड़ा, इसलिए पंजाब को वीरों की धरती भी कहा जाता है। यहां के संगीत से वीर रस झलकता है। यहां का प्रत्येक वाद्य अपने एक विशिष्ट ढंग के लिए माना जाता है। जब युद्ध स्थलों पर सैनिक थके होते थे तो पंजाब के गायक तथा वादक जाकर उनका मनोरंजन करते थे । यह वीर पुरुषों की गाथाओं को सुनाकर सैनिकों के उत्साह को बढ़ाते थे तथा उनमें जोश की भावना को जागृत करते थे। जैसे गुरु गोविंद सिंह जी की वार। यह वार अधिकतर ढाड़ी जत्थे वाले सारंगी तथा ढड़ के साथ सुनाते थे। यही से "वार" नामक गायन–शैली ने जन्म लिया और इसका अनुसरण होता गया। फलस्वरुप आज भी हमें वैसी ही वार सुनने को मिलती हैं तथा इन्हें आज भी ढड़ और सारंगी के साथ गाने की प्रथा है। प्रेमगाथाओं तथा वार के साथ तुम्बी जब बजाई जाती है तो अधिक कर्णप्रिय लगती है। भांगड़ा तथा लोक गीतों के साथ ढोल, ढोलकी, अलगोजा इत्यादि को बजाने की शैली जो पंजाब में देखने को मिलती है वह शायद और कहीं नहीं मिलती । पंजाब के लोक संगीत में भैरवी, काफी, खमाज, तोड़ी, मांड इत्यादि रागों के स्वर पाए जाते हैं। वाद्यों पर जो धुनें बजाई जाती हैं वह बहुधा तीन, चार या पांच स्वर की ही होती हैं। यहां के लोक संगीत में अधिकतर वीर रस तथा करुण रस अधिक झलकता है।

पंजाब के लोक गीतों में अलग–अलग वाद्यों का प्रयोग होता है जैसे तुम्बी, अलगोजा, ढड़, सारंगी, ढोल इत्यादि सभी वाद्यों को बजाने का अपना एक विशिष्ट ढंग और शैली है। पंजाब के लोक वाद्यों को वादन शैली अर्थात बजाने का ढंग को हम वर्गीकरण के अनुसार देखेंगे :

तुम्बी–

यह पंजाब का लोकप्रिय वाद्य है। पहले पंजाब में बड़े–बड़े तूम्बों के साथ लोकगीत गाए जाते थे। वादकों ने अपनी सहूलियत को देखते हुए तुम्बी का निर्माण किया, क्योंकि तुंबा आकार में बड़ा होने के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में कठिनाई होती थी। तुम्बी को ही 'एक तारा' भी कहा जाता है । तुम्बी में अधिकतर तीन स्वरों का ही प्रयोग होता है। पंजाब में तुम्बी विभिन्न लोकगीतों, टप्पे, भंगड़े, प्रेम और वीर गाथाओं के साथ बजाई जाती है।

बजाने का ढंग

इस वाद्य को बजाने के लिए वादक अपने दोनों हाथ का प्रयोग करता है। दाएं हाथ की तर्जनी उंगली की सहायता से तार पर प्रहार किया जाता है और बाएं हाथ की उंगली के पूर्व से तार को दबाकर स्वर निकालते हैं।

सारंगी

सारंगी भी पंजाब का प्राचीनतम लोक वाद्य है। इस वादे का प्रयोग शब्द, कीर्तन, वारों अथवा लोक गाथाओं के साथ होता था । सिख ढडी वाले अधिकतर वारे और सूफी ढडी वाले हीर रांझा, मिर्जा इत्यादि बजाते थे । पंजाब में सारंगी को अधिकतर ढडी लोग ही बजाते हैं तथा लय वाद्य के रूप में केवल ढड ही इस्तेमाल किया जाता है । पंजाब में प्रचलित ढड सारंगी बजाई जाती है । उसमें तथा शास्त्रीय संगीत में बजाए जाने वाली सारंगी में कुछ ज्यादा अंतर नहीं है। शास्त्रीय संगीत में बजाए जाने वाली सारंगी, लोक संगीत में बजायी जाने वाली सारंगी का सुधरा हुआ रूप ही माना जाता है।

इस प्रकार पंजाब के लोक संगीत में बहुत से वाद्य प्रयोग किये जाते हैं, जैसे चिमटा, खँजरी, अलगोज़ा, बुगचू आदि आदि । इन वाद्य–वृन्दों के कारण ही समाज

के संभ्रांत वर्ग में लोक कलाकारों का मान बढ़ा है वहीं लोगों को इस बात का भी भास हुआ है कि देखने में अत्यन्त सरल दिखने वाले इन वाद्यों को बजाना उतना सरल नहीं जितना प्रतीत होता है। इन्हें बजाने के लिए भी शास्त्रीय वाद्यों की भांति ही अत्यन्त धैर्य, परिश्रम और निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता पड़ती है। अंत में, हम इतना कह सकते है की पंजाब का लोक संगीत एवं लोक वाद्यों की धरोहर बहुत ही समृद्ध है । यह यहाँ के संगीत को बहुत ही प्रभावशाली बनाते हैं। इन्ही तथ्यों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि पंजाब के लोक संगीत का भविष्य बहुत उज्ज्वल है तथा यह हमारे पंजाब के संस्कृति की अमूल्य धरोहर है और हमें इसकी रक्षा एवं प्रचार–प्रसार करना चाहिए ।

संदर्भ सूची :

1. सांस्कृत्यायन, राहुल, हिंदी साहित्य का वृहद् इतिहास, पृ.–1
2. श्रीमदभगवदगीता, अध्याय– 15, श्लोक– 18
3. वर्मा, रामचंद्र, शब्दकोष, संक्षिप्त हिंदी शब्द सागर, पृ–
4. गर्ग, लक्ष्मी नारायण, निबंध संगीत, भारतीय संधर्ब में लोक संगीत, पृ – 73
5. रामचरित मानस। गीता प्रेस, बाल कांड, तुलसीदास, पृ. – 56
6. डॉ. सतेंद्र, लोक साहित्य विज्ञान, पृ.– 03
7. Gupta, Shankar Sen and Upadhyaya, K.D., Studies in Indian Folk Culture, Pg. 11– 12.
8. मिश्र, डॉ. लाल मणि, भारतीय संगीत वाद्य, पृ – 21

जम्मू प्रान्त के डुग्गर लोक–संगीत–परम्परा के अन्तर्गत लोक वाद्यों का विश्लेषणात्मक अध्ययन

–सगुना*

भारत के विभिन्न प्रान्तों में अलग–अलग लोक–संगीत देखने को मिलता है। हर प्रकार के लोक–संगीत के पास अपने संगीत वाद्य यंत्र होते हैं।

डुग्गर क्षेत्र में भी अपना खुद का एक संगीत है जिसे डोगरी लोक–संगीत कहा जाता है । इस क्षेत्र के लोक–संगीत वाद्य यंत्रों को लोक–गीतों के साथ–साथ लोकनृत्यों में भी प्रयोग किया जाता है । पूरे डुग्गर क्षेत्र को सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बहुत महत्व मिलता है । इस क्षेत्र में सांस्कृतिक संस्कृति का अपना महत्व है और इस क्षेत्र के लोक संगीत का लोक–वाद्य डोगरा लोक–संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इस पूरे क्षेत्र में मन्दिर, धार्मिक स्थान, सूफ़ी संतों की कब्रें और ऐतिहासिक स्मारक हैं जो हमारे डुग्गर लोक–संस्कृति और परंम्पराओं को दर्शाती है। जम्मू जिले में स्थित कपीसकुण्ड, ड़ोडा जिले में सरथल देवी, रघुनाथ मन्दिर, रणविरेश्वर मन्दिर, महाकाली मन्दिर और पीरखौ जैसे स्थल जम्मू शहर में स्थित हैं। वहाँ ऐसे स्थान हैं जहाँ हम डोगरा संस्कृति की झलक देख सकते हैं और इन जगहों पर कुछ वाद्य यंत्र देखने को मिलते हैं।

जम्मू जिले के कटरा क्षेत्र में स्थित प्रसिद्व तीर्थ स्थल वैष्णो देवी की यात्रा के प्रारम्भ से लेकर भवन तक पारम्परिक लोक–संगीत की मीठी धुने और भक्ति गीत सुनने को मिलता है।

मुख्य शब्द : लोक, संगीत, लोक–वाद्य, जम्मू, डुग्गर

डुग्गर लोक वाद्य

भारतीय संगीत विश्व प्रसिद्ध संगीत है और इसका संगीत वाद्य–यंत्र इसकी कला मूल्यों को उकसाने में पीछे नहीं है। संगीत का सहायक हिस्सा संगीत वाद्य–यंत्रों द्वारा नियन्त्रित किया जाता है जो अपनी ही पवित्रता, पहचान और उपयोगिता से संगीत में चार चांद लगा देता है। इन वाद्य यंत्रों की सहायता से संगीत में संगीत नोट्स का उत्पादन होता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह उपकरण स्वयं संगीत नोटों को बोलते हैं। भारतीय संगीत वाद्य यंत्रों को निम्नलिखित चार श्रेणीयों के अनुसार वर्गीकृत किया गया है:–

1) तत् वाद्य
2) सुषिर वाद्य
3) अवनद्ध वाद्य
4) घन वाद्य

तत् सुषिर, अवनद्ध, घन, वाद्यतंत्री तंत वाद्य सुषिरमतं।।
चर्मविनद्धवदनमवनद्ध तु वाद्यते, घनोमूर्तिः
साडभिधाताद्धवते यंत्र तद्धनं।। (संगीत रत्नाकर)

उपरोक्त सभी प्रकार के संगीत वाद्ययंत्र गानों और नृत्यों को पूरा समर्थन प्रधान करते हैं और यह देखा

*शोध–छात्रा, परफॉर्मिंग आर्ट्स, लवली प्रोफेशनल विश्वविद्यालय, पंजाब

गया है कि कोई भी गीत यां नृत्य बिना वाद्य के उचित रूप से नहीं चल सकता।

जम्मू क्षेत्र में ऐतिहासिक स्मारकों और पुरानी मूर्तियों के चित्रों में पारम्परिक डोगरी लोक वाद्य यंत्र देखने को मिलते हैं जो डुग्गर लोक–संगीत में डुग्गर लोक वाद्य यंत्र की भूमिका को दर्शाते हैं। संक्षेप में, हम कह सकते है कि लोक–संगीत वाद्य डुग्गर लोक संगीत का एक महत्त्वपूर्ण अगं है। डुग्गर लोक वाद्य को तीन हिस्सो में विभाजित किया गया हैः–

1) तार वाद्य यंत्र

2) सुषिर वाद्य यंत्र (हवा उपकरण यंत्र)

3) तबला वाद्य

1) **तार वाद्य यंत्र**

संगीत वाद्य में पहली और सबसे ऊपरी श्रेणी तार वाद्य यंत्रों की है। इसमें संगीत तार वाद्यों की तारों से उत्पन्न होता है। यह माना जाता है 'वीना' सबसे पहला और सबसे पुराना वाद्य यंत्र है। इसे मां सरस्वती का वाद्य भी माना जाता है। हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत में कई तार वाले यंत्र हैं जो संगीत के क्षेत्र में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। डुग्गर क्षेत्र में भी कईं तारवाद्य यंत्र हैं जो यहाँ के लोक–संगीत क्षेत्र के लोग–गीतों, लोक नृत्यों में भी अपनी अहम् भूमिका रखते हैं। डुग्गर लोक तार वाद्य–यंत्रों में प्रयोग होने वाले लोक वाद्य इस प्रकार हैः–

अ) किंग स) चंग ब) सांरगी

अ) **किंग** :–

धार्मिक रूप से विश्वास हमेशा भारतीय सभ्यता का एक हिस्सा रहा है। यह एक स्पष्ट तथ्य है कि सभी प्रकार के धार्मिक लोग इस देश में एक साथ रहते हैं और अपनी प्राचीन संस्कृति में बड़ा विश्वास रखते हैं।

संगीत भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंग है। इसका भारतीयों के धार्मिक रिवाजों पर भी बड़ा असर पड़ा है और इस वजह से लोगों को भी भक्ति गीतों में बहुत विश्वास था जो मंदिरों, सूफी–संतों, गुरुद्वारों और अन्य पूजा स्थलों में प्रयोग होते थे। इन्हीं भक्ति गीतों के साथ वाद्य–यंत्र भी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। डुग्गर क्षेत्र लोक संस्कृति का एक ऐसा खजाना था जो अपने धर्म में विश्वास रखते थे। इसी क्षेत्र में संगीत में प्रयुक्त होने वाला वाद्य–यंत्र किंग एक लोकप्रिय वाद्य–यंत्र है जो धार्मिक संगीत में काफी प्रयोग में लाया जाता था। 'कार्कन' नामक क्षेत्र के भक्ति लोक गीतों को संगत करने के लिए यह वाद्य बहुत लोकप्रिय था। यह वाद्य जब लोक संगीत के साथ प्रयोग में लाया जाता था तो ऐसा लगता था कि वह वाद्य–यंत्र खुद ही गा रहा हो। एतिहासिक दृष्टि से यह वाद्य–यंत्र बहुत पुराना है और प्राचीन काल से ही इसका अस्तित्व रहा है। किंग का इतिहास भगवान शिव के साथ जुड़ा हुआ है। भगवान शिव ने नाभात्रऋषि को एक वाद्य–यंत्र तैयार करने का आदेश दिया था। जब वनवास काटकर भगवान श्री राम आयोध्या वापस आये तो उनके राज्य तिलक समारोह का आयोजन किया गया जिसमें भगवान शिव ने नाभात्रऋषि को किंग वाद्य–यंत्र से भक्ति गीत गाने को कहा और उसके बाद से यह वाद्य–यंत्र भक्ति गीतों के साथ प्रयोग में आ गया और इसी वाद्य–यंत्र को डोगरा संस्कृति ने अपने लोक संगीत में प्रयोग में लाया।

इस वाद्य यंत्र में एक तार का प्रयोग किया जाता है। इस वाद्य यंत्र का प्रयोग ज्यादातर संतों की प्रशंसा के गीत, वीरता के गीत, देवी–देवताओं के गीत के लिए किया जाता है।

इस तार की एक मधुर ध्वनि गीतों को एक नया रुप प्रदान करती है। लोक–गीत की मधुर आवाज तथा इस वाद्य के तारों की झंकार सारे वातावरण को भक्ति रस में बदल देती है।

ब) **चंग** :–

'चंग' भी इस क्षेत्र के कुछ हिस्से में चुंग के नाम से जाना जाता है। यह एक बहुत ही लोकप्रिय और

सरल वाद्य यन्त्र है जो लोकगीतों में विशेष रूप से पहाड़ी क्षेत्र में इस्तेमाल किया जाता है। इस उपकरण को जेब वाद्य यन्त्र भी कहा जाता है।

इस वाद्य यन्त्र का आकार इतना छोटा है कि यह जेब में रखा जा सकता है और आसानी से किसी भी स्थान पर ले जाया जा सकता है। यह छोटे आकार के कारण यह वाद्य पहाड़ियों में बहुत लोकप्रिय है क्योंकि इसे किसी भी जगह पर आसानी से ले जाया जा सकता है।

चंग का उपयोग अन्य लोकगीतों और नृत्यों में भी किया जाता है। इस उपकरण के इतिहास का विश्लेष्ण करना मुश्किल है कि यह कैसे डुग्गर क्षेत्र में लोकप्रिय हो गया लेकिन इस तथ्य को दूर नहीं किया जा सकता कि इसकी साधारण सरंचना के कारण पहाड़ियों में यह लोकप्रिय हो गया। यह वाद्य सभी वाद्यों के आकार में सबसे छोटा है। इसकी संरचना बहुत सरल है। यह एक छोटी चाबी के आकार में लोहे की पट्टी से बना होता है। इसका आकार छः सेंटीमीटर का होता है। इसकी एक छोर आरी की तरह होती है। इसे दांत में दबाया जाता है और दाहिने हाथ की एक अंगुली से बजाया जाता है जिसके कारण कंपन ध्वनि उत्पन्न होती है और वह ध्वनि लोकगीतों और लोकनृत्यों में प्रयोग होती है। यह लोकगीतों और लोकनृत्यों के प्रदर्शन को मनमोहक बना देता है।

स) **सारंगी** :–

मानवता और मानवतावाद के बगल में भारतीय संस्कृति भी बहादुरी में पीछे नहीं रहती है। देश और देश–भक्ति के लिए भारत के प्रत्येक प्रांत का बहादुरी में अपना एक अलग इतिहास है। भारत के डुग्गर भूमि को भी बहादुर लोंगों का देश माना जाता है। यहाँ के लोकसंगीत में भी लोगों की बहादुरी का वर्णन है। जैसे ''बरन'' लोकगीत में लोगों की बहादुरी के गीत गाए जाते है।

सारंगी डुग्गर लोक–संगीत का एक लोकप्रिय वाद्य यंत्र है जिसे ''बरन'' बहादुरी लोकगीतों के साथ प्रयोग किया जाता है।

इस वाद्य को डुग्गर क्षेत्र के कुछ हिस्सों में 'नीरि' के नाम से भी बोला जाता है। भारतीय शास्त्र संगीत में इस वाद्य यंत्र का अहं स्थान है। कहा जाता है कि सारंगी का आविष्कार रावण के समय में ही हो गया था।

इन तार वाले वाद्यों में किंग तथा चंग को तत्वाद्य तथा सारंग की वितत् वाद्य कहा जा सकता है। इन सभी तार वाले वाद्यों को डुग्गर के तार–वाद्य यंत्र (String instruments) कहा जा सकता है।

2) **सुषिर वाद्य (हवा उपकरण)**

तार वाद्य के अतिरिक्त फूँक से बजाने वाले वाद्य जो डुग्गर क्षेत्र में प्रयोग किए जाते हैं। उनमें बांसुरी, तुर्री, नगोजे, नरसिंहा तथा कैह्ड्ढल के नाम आते हैं। इन सभी वाद्यों को डुग्गर का सुषिर वाद्य (हवा उपकरण) कहा जाता है और इनका विवरण इस प्रकार हैः–

क) **बांसुरी** :–

यह वाद्य डुग्गर क्षेत्र का सबसे महत्वपूर्ण फूँक वाला वाद्य है जिसे अधिकतर पहाड़ी क्षेत्र में प्रयोग में लाया जाता है। इसका आकार भारतीय संगीत की बांसुरी जैसा होता है, परन्तु अन्तर सिर्फ इतना है कि इस क्षेत्र में प्रयोग में लाई जाने वाली बांसुरी का आकार छोटा होता है। 'बौस' शब्द 'बांसुरी' का ही बिगड़ा हुआ शब्द है। डुग्गर के क्षेत्र में इसे 'बंजली' भी कहा जाता है। इसे बजाने का तरीका तथा स्वर वैसे ही है जैसे भारतीय संगीत की बांसुरी के हैं। पहाड़ी क्षेत्र में यह इसलिए प्रचलित है क्योकि इसका आकार छोटा है। इसे जहां चाहो वहां आसानी से ले जाया जा सकता है। एतिहासिक दृष्टि से यह वाद्य काफी प्राचीन है जिसे भगवान कृष्ण के साथ जोड़ा जाता है और यह भी कहा जाता है कि इसका अविष्कार भी भगवान कृष्ण ने स्वयं

ही किया था। इस वाद्य की मधुर तान जब प्रकृति के वातावरण में गूंजती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि मानव ही नहीं अपितु प्रकृति भी रस विभोर हो उठी हो।पहाड़ी क्षेत्र के कुड्ड नाच के साथ इस वाद्य को बजाया जाता है जिससे नाच को एक नया ही रंग मिल जाता है।

ख) **तुर्री** :–

इसे डुग्गर के कई भागों में 'तुतड़ी' भी कहा जाता है।

इसका आकार भारतीय संगीत के वाद्य शहनाई जैसा है और बजाने का तरीका भी शहनाई जैसा है। तुर्री के स्वर भी शहनाई जैसे ही है। अन्तर सिर्फ इतना है कि शहनाई के स्वरों का विस्तार हो सकता है परन्तु तुर्री के स्वरों का विस्तार कुछ हद तक ही हो सकता है। इस वाद्य को पहाड़ी क्षेत्र के ही कुछ नृत्यों के साथ बजाया जाता है। विशेषकर खुशी के समय किये जाने वाले नाचों के साथ।

ग) **नगोजे**:–

यह वाद्य डुग्गर के मैदानी क्षेत्र के नाचों में काफी लोकप्रिय है। इस वाद्य का प्रचार पंजाब के क्षेत्र में काफी ज्यादा है और वहां के नाच भागड़ा में इसका विशेष महत्व है। इसी कारण से ही डुग्गर क्षेत्र जो पंजाब से मिलता है, इस वाद्य को अपने नाचों के लिए अपनाए हुए है।

घ) **नरसिंहा** :–

घोषणा के लिए प्रयोग में लाऐ जाने वाला यह वाद्य डुग्गर के लोकसंगीत के साथ प्राचीन काल से ही जुड़ा हुआ है।

तांबे का बना हुआ यह वाद्य इस क्षेत्र के मन्दिरों में पूजा के समय बजाया जाता रहा और इस समय भी यह घोषणा के लिए प्रयोग में लाया जाता है ताकि लोगों को पता चल सके कि मन्दिरों में पूजा हो रही है। धर्मयुद्ध में भी यह वाद्य घोषणा के लिए प्रयोग में लाया जाता था। युद्ध के प्रारम्भ तथा समाप्ति की घोषणा इसी वाद्य द्वारा की जाती थी। इस समय इसे 'रणसिंहा' भी कहा जाता था। 'रण' का अर्थ है युद्ध और 'सिंहा' का अर्थ है शेर। अर्थात् इसे युद्ध के शेर का नाम दिया गया था।

डोगरी लोकनाच कुड्ड में इस वाद्य का बड़ा ही महत्व है। इसकी ध्वनि इस नाच को एक नया ही रूप देती है और नाच को आकर्षक बना देती है। धार्मिक दृष्टि से इस वाद्य के विषय में यह भी मान्यता है कि इसकी ध्वनि सारे वातावरण को पवित्र कर देती है और इसकी ध्वनि से 'ऊँ' शब्द का उच्चारण होता है।

ङ) **कैह्ल** :–

नरसिंहा की तरह यह वाद्य भी तांबे का बना हुआ है। अंतर सिर्फ इतना है कि कैह्ल का आकार सीधा होता है और नरसिहां का आकार दोनों ओर से गोलाई में एक–दूसरे सिरे की विपरीत दिशा में होता है। ध्वनि दोनों वाद्यों की एक जैसी है और कैह्ल भी घोषणा के लिए प्रयोग में लाई जाती है। विशेषकर विवाह के समय। इसके अतिरिक्त कैह्ल नरसिहां के साथ कुड्ड नाच में बजाई जाती है।

3) **तबला वाद्य**

तारों वाले तथा फूक वाले वाद्यों के अतिरिक्त एक और प्रकार का वाद्य होता है जो संगीत में ताल के लिए प्रयोग में लाया जाता हैं। डोगरी लोकसंगीत में इस प्रकार के वाद्य काफी लोकप्रिय हैं। इन वाद्यों को Percussion Instrument of Duggar भी कहा जा सकता है। इनमें ढोल, ढोलकी, रोड़ा, नगाड़ा, डफली, कंसिया तथा थालघड़ा के नाम लिए जा सकते हैं।

i) **ढोल** :–

यह वाद्य डुग्गर का एक अत्यन्त लोकप्रिय वाद्य है। इस क्षेत्र के हर नाच के साथ इसे बजाया जाता है। पहाड़ी क्षेत्र में इसे 'बैस' भी कहा जाता है। वैसे तो भारत के लगभग सभी लोकनाचों में ढोल बजाया जाता

है परन्तु डुग्गर क्षेत्र के ढोल का आकार सभी ढोलों से बड़ा है।

ढोल डोगरी लोकसंगीत के साथ प्राचीन काल से जुड़ा हुआ है। इस वाद्य की एक सबसे बड़ी विशेषता है कि इसमें समयानुसार ताल बजाए जाते हैं। खुशी के अवसर पर अलग प्रकार का ताल बजाया जाता है और दुखी वातावरण में दूसरे प्रकार का। अर्थात् इस वाद्य में ताल हर प्रकार के हैं जो सारे वातावरण को अपनी लपेट में ले लेते हैं। डुग्गर के क्षेत्र में कुश्तियों के अवसर पर भी ढोल बजाया जाता है जिसकी गड़गड़ाहट सारे वातावरण को उत्साहपूर्ण बना देती है। यह वाद्य डुग्गर के नाचों कुड्ड जातर, फुम्मानीयां आदि में काफी लोकप्रिया है।

ii) **ढोलकी रोडा** :–

ढोल के ही प्रकार का एक वाद्य ढोलकी भी डुग्गर क्षेत्र में काफी लोकप्रिय है ढोल का आकार बड़ा है और ढोलकी का आकार छोटा है। ढोलकी का प्रयोग डुग्गर के लोकगीतों, विशेषकर विवाह के लोकगीतों में काफी लोकप्रिय है। डुग्गर के प्रसिद्ध नाच जागरणा में ढोलकी का प्रयोग होता है । इसके साथ एक छोटा–सा पत्थर जिसे रोडा कहते हैं, ढोलकी पर उसके तालानुसार बजाया जाता है।

iii) **नगाड़ा** :–

इस वाद्य का महत्व इस क्षेत्र के मन्दिरों में बहुत अधिक है जहां इसे पूजा के समय बजाया जाता है ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्व धर्मयुद्ध के साथ जुड़ा हुआ है। जहाँ यह घोषणा के लिए प्रयोग में लाया जाता है। डोगरी लोकनाच सस्सी–पुनु में इस वाद्य का काफी महत्व है।

iv) **डफला** :–

प्राचीन काल में डफला मनुष्य के लिए अन्तिम संस्कार के समय बजाया जाता था। आज कल यह होली के त्योहार के साथ जुड़ा है और बच्चों की टोलियां रंग फेंकते समय डफले की ताल पर ही खुशी से नाचती हैं।

v) **कैंसीया** :–

यह छोटे मंजीरों के आकार की होती है जिन्हें घण्टी की तरह कुण्ड नाच में बजाया जाता है। डुग्गर के क्षेत्र में इसे मन्दिरों में भी पूजा के समय प्रयोग में लाया जाता है।

vi) **थाली–घड़ा** :–

यह वाद्य पहाड़ी क्षेत्र में काफी लोकप्रिय है। एक घड़ा जिसे मुंह पर कांसी की थाली उल्टा कर रखी जाती है। थाली और घड़े की ध्वनि काफी कर्णप्रिय होती है और यह वाद्य जातर नाम के लोकनाच के साथ बजाया जाता है।

7) **डंडारस** :–

यह दो डंडे होते हैं जिन्हे एक दूसरे के साथ बजाकर ध्वनि पैदा की जाती है । इसका नाम डंडारस इसलिए पड़ा क्योंकि दो डंडे बजाकर ध्वनि निकाली जाती है। यह डुग्गर के लोकप्रिय नाच फूम्मनीयां में ढोल की ताल पर बजाया जाता है।

निष्कर्ष :–

डुग्गर लोक संगीत बहुत ही समृद्धशाली है। यहां के लोक गीत, लोक नृत्य और वाद्यों का आपस में घनिष्ठ संबंध है परन्तु लोक वाद्यों के प्रयोग में आए बदलाव के कारण लोक संगीत पर भी प्रभाव पड़ रहा है।

संदर्भ सूची :–

1. निर्मोही, शिव, डुग्गर का लोक साहित्य, विनोद बुक, 1988
2. गोस्वामी, ओमय अशोकगुप्ता, (पहला संस्करण), डुग्गर दा सांस्कृतिक इतिहास, जम्मू जे. एंड के. अकैडमी आफ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज, 1985
3. Wakhlu, Somnath, The Rich Heritage of Jammu & Kashmir, Gyan Publishing House, New Delhi, 1998.

बुन्देलखण्ड के प्रचलित लोकपर्व में गाये जाने वाले गीत : विवेचनात्मक अध्ययन

—नेहा श्रीवास्तव*

भारत एक विशाल देश है । यहाँ हर प्रदेश की वेश–भूषा तथा भाषा–शैली में अन्तर दिखाई देता है। इतनी भिन्नता होते हुए भी एक समानता है जो देश को एक सूत्र में पिरोये हुये है, वह है यहाँ की सांस्कृतिक एकता पर्व एवं त्यौहार। स्वभाव से ही मनुष्य उत्सव प्रिय है । महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है "उत्सव प्रियः मानवाः।

पर्व हमारे जीवन में उल्लास, उत्साह, उमंग भर देते हैं। भारतीय संस्कृति में पर्वों का विशेष स्थान है यहाँ तक कि इसे त्यौहारों की संस्कृति कहना गलत नही होगा, साल भर कोई–ना–कोई उत्सव चलते ही रहते हैं, प्रत्येक महीने एवं ऋतु में कम–से–कम एक त्यौहार अवश्य मनाया जाता है, कुछ उत्सव किसी अंचल में मनाये जाते है तो कुछ उत्सव किसी अंचल की विशेष पहचान होते हैं । इसी तारम्यता में अगर बुन्देलखण्ड की बात करें तो बुन्देलखण्ड उत्तर प्रदेश तथा मध्य प्रदेश की सीमाओं से घिरा हुआ है जिसकी बोली बुन्देली है। इस अंचल की लोक संस्कृति को बुन्देली संस्कृति की संज्ञा दी गई है। बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति में लोक–दर्शन, जन–मानस के आदर्श, विश्वास, रीति–रिवाज, पर्व –संस्कार तथा मान्यतायें आदि समाहित हैं जिसकी झलक इस अंचल के गाये जाने वाले गीतों में दिखाई देती है।

मुख्य शब्द : लोक, पर्व, गीत, बुंदेलखण्ड, संस्कृति, पर्व, त्योहार

सम्पूर्ण भारत की भाँति बुन्देलखण्ड में भी विभिन्न पर्वों पर सभी राष्ट्रीय एवं सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक गीत गाये जाते हैं, यथा :

जवारे

चैत्र मास के दूसरे (शुक्ल) पक्ष की प्रतिपदा से आरम्भ होने वाला यह पर्व दो बार मनाया जाता है। चैत्र और क्वांर (आश्विन) मास की नवदुर्गा पूजन में जवारे नवदुर्गा के रुप में असीम श्रद्धा का परिचायक है। चैत्र और क्वांर के महीने में इस पर्व की समाप्ति पर प्रत्येक गाँव में जवारे जुलूस के रुप में निकाले जाते हैं । कुछ बच्चे, युवक और वृद्ध अपने मुख तथा अन्य अंगों पर त्रिशूल या सांग छिदा कर, मोर पंखों के चंवर लेकर मस्ती में झूमते हुए माता के मंदिर में जाते हैं। इनके पीछे–पीछे घट (घड़ों) को, जिसमें गेहूँ के जवारे उगे रहते हैं, सिर पर धारण किए हुए नर–नारियाँ माता के भजन गाते है।

अरी ऊँचे लगे दरबार बिराजे माई
मैहर वाली शारदा हो मॉ

1. सती की हार गिरो गिर ऊपर
   सती ने लौ अवतार बिराजे माई
   मैहर वाली शारदा हो मॉ
2. आल्हा अमर करो कलयुग ने
   महिमा अपरम्पार बिराजे माई
   मैहर वाली शारदा हो मॉ

इस गायन को अचरी गायन कहा जाता है । यह पर्व शक्ति पूजा का पर्व कहा जाता है क्योंकि शक्ति की देवी दुर्गा इस पर्व की ईष्ट हैं।

अकती

वैशाख मास के शुक्ल पक्ष में तीज के दिन का यह पर्व कुंआरी कन्याओं एवं विवाहित महिलाओं के लिए अलग–अलग महत्व रखता है। इस पर्व को कृषक भी बड़े उल्लासपूर्वक मनाते है। कन्याएँ और स्त्रियाँ संध्या होते ही अकती गीत गाते हुए बरगद के पेड़ के नीचे पुतलियाँ सजाकर उनका विवाह करती हैं । वहीं पर गले हुए दौल(चने की दाल) वितरित करती हैं।

टाठी भरो घिऊ, हमाओ और एकई जिऊ

*शोध–छात्रा, दयालबाग एजेकुशनल इंस्टीच्यूट, आगरा

कजली या भुजरिया

इस पर्व का ऐतिहासिक महत्व है । बुन्देली वीर आल्हा के प्रसंगानुसार, पृथ्वीराज द्वारा महोबा घेरने पर आल्हा–ऊदल ने जोगी के वेश में आकर चन्द्रावली की कजली सिरवाई थी। इस पर्व पर पत्तों के छोटे–छोटे दोने अथवा मिट्टी के पात्रों में गेंहूँ या जौ के पौधे उगाये जाते हैं । इन पौधें को श्रावण मास की पूर्णिमा को गाँव के बाहर स्थित तालाब में सिराया जाता है। आल्हा–ऊदल के नगर महोबा के लोग कजली गीत गाकर यह पर्व बड़े उत्साह और उल्लासपूर्वक मनाते हैं। यह सावन के महीने में रक्षाबन्धन के समय मनाया जाता है।

कजली गीत

कि हरे रामा डारत मेघ फुहार, सावन ऋतु आई रे आई

1. लख हरी हरी हरयाई, तन पपीहा बोले बाले बोली
   कि हरे रामा तड़पत हारन हार, सावन ऋतु आई रे आई
   कि हरे रामा डारत मेघ फुहार, सावन ऋतु आई रे आई
2. जन–जन के मन हरसायो, सावन आगमन सुहायो
   कि हरे रामा खुशियाँ हृदय अपार, सावन ऋतु आई रे आई
   कि हरे रामा डारत मेघ फुहार, सावन ऋतु आई रे आई

मामुलिया

भादो के महीने में यह पर्व मनाया जाता है जिसमें एक पर्व महाबुलिया या महामुलिया है, जिसे एक खेल के रुप में लड़कियाँ मनाती हैं । लड़कियाँ बेरी की कांटेदार डाल के प्रत्येक कांटे पर रंग–विरंगे अनेकानेक पुष्प से सजाती हैं और मामुलिया को बीच में रखकर गीत गाती हुई उसके चारो तरफ घूम–घूम कर नृत्य करती हैं। अन्त में गाँव के तालाब में उसको सिरा देती हैं।

महामुलिया! मेरी महामुलिया!
कहाँ चली मोरी मामुलिया
ले आओ– ले आओ, चम्पा चमेली के फूल,
सजाओ मोरी मामुलिया
ले आओ– ले आओ, तुरहिया के फूल
सजाओ मोरी मामुलिया
जहाँ राजा अजुल जू के बाग
झमक चली मोरी मामुलिया
महामुलिया! मेरी महामुलिया!
कहाँ चली मोरी मामुलिया

दीपावली

यह पर्व सम्पूर्ण भारत में मनाया जाता है लेकिन बुन्देलखण्ड की दीपावली में यहाँ के नृत्य ने अपनी एक अलग पहचान बनाई है जिसे सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में दिवारी नृत्य के नाम से जानते हैं । इसके साथ दिवारी गीत भी गाये जाते हैं। गायक द्वारा आरम्भ किये गये गीतों पर नृत्य मण्डली अपने–अपने हाँथों में डण्डे लेकर चन्द्राकार बनाकर नृत्य प्रारम्भ कर देती है, गीत के सम आने पर नर्तक भी स्वयं गीत गाने लगते हैं डण्डों की चट–चट की आवाज एवं वाद्यों की ध्वनि एक अलग–सी धुन पैदा करती है ।यह ध्वनि लोगो में जोश भर देती है।

दिवारी गीत

जान के मारत मोहे कन्हैया प्यारे, जान के मारत माहे।
बृन्दावन की कुंज गलिन में
बृन्दावन की कुंज हाँ गलिन में
माखन खिलाऊँ तोहे कन्हैया प्यारे
जान के मारत मोहे।

कतिकारी पर्व

यह पर्व कार्तिक मास में मनाया जाता है। एक माह के इस पर्व पर स्त्रियाँ कार्तिक स्नान करती हैं, भगवान कृष्ण को ईष्ट मानकर पूजा करती हैं एवं कार्तिक गीत गाती है। इन गीतों में भगवान कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया जाता है, इस पर्व के गीत सुनने में अत्यन्त मधुर एवं श्रृंगारिक होते हैं।

नित आवत हो जू कोउ लला

1. नित आवत नित बंशी बजाबत
   सोबत सखियां जगावत हो जू कोउ लला
   नित आवत हो जू कोउ लला
2. मोर मुकुट मेरे हरि जू के सोहे
   जिनके बीच बिहारी जू की झाँकी
   वनवारी जू की झाँकी कोउ लला
   कन्हैया जू की झाँकी कोउ लला

होली

बुन्देलखण्ड में बसंत पंचमी के बाद से होली के गीत गाये जाने लगते हैं और ये सिलसिला होली तक बरकरार रहता है। इस अंचल में होली के गीतों को फाग कहते हैं, यहाँ होली के दिन की परम्परा यह है कि सुबह–सुबह रंग–गुलाल की होली खेलकर, फिर शाम को गाँव के किसी चबूतरे पर फाग गायी जाती है। सामान्य रुप से फाग के गीतों में प्रकृति की सुन्दरता के साथ राधा–कृष्ण के प्रेम में होली खेलने का वर्णन होता है।

फाग–

रंग डारी गिरधारी रंग से, रंग डारी गिरधारी लाल

1. श्री राधा की सारी रंग से, रंग डारी गिरधारी लाल
   रंग डारी गिरधारी रंग से, रंग डारी गिरधारी लाल
2. कंचन कलश लै कर गिरधर अरे कंचन कलश लै कर गिरधर
   लागे करन तैयारी रंग से, रंग डारी गिरधारी लाल
   रंग डारी गिरधारी रंग से, रंग डारी गिरधारी लाल

इन पर्वों के अलावा बुन्देलखण्ड में तीज, ऋषि पंचमी, अनन्त चौदस, मैराई छठ आदि त्यौहार भी बड़े उत्साह से मनाया जाता है। धर्मिक एवं सामाजिक त्यौहारों के साथ स्वतन्त्रता दिवस, गणतन्त्र दिवस, होली पर राई नृत्य एवं गीतों की अनोखी परम्परा बुन्देलखण्ड में ही देखने को मिलती है। बुन्देलखण्ड के लोक–पर्वों के गीतों में यहाँ की लोक–संस्कृति झलकती है जो ऐतिहासिक दृष्टि से ही नही बल्कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी अति महत्वपूर्ण है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. गुप्त, प्रो. नर्मदा प्रसाद, बुन्देली संस्कृति एवं साहित्य, प्रथम संस्करण, 2001
2. श्रीवास्तव, डॉ. वीणा, बुन्देलखंडी लोकगीतों का सांगीतिक तत्व, प्रथम संस्करण, 2004
3. बुन्देलखण्ड : संस्कृति परम्परा और विरासत, प्रथम संस्करण, जनवरी, 2017
4. गुप्ता, सरोज, हमारा बुन्देलखण्ड, छाया चाकसे, प्रथम संस्करण जनवरी, 2015
5. अमर उजाला, amarujala.com अक्टूबर 2013

पूर्वी उत्तर प्रदेश के लुप्तप्राय लोकगीतों का सांगीतिक अध्ययन

–प्रियंका सिंह*

पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोकगीतों का चलन बहुतायत रूप में देखने को मिलता है। जिसमें दो भाषाओं का समावेश अत्यधिक देखने को मिलता है– अवधि व भोजपुरी। अवधि लोकगीतों का साहित्य अत्यन्त विपुल एवं समृद्ध है। अवधि एवं भोजपुरी गीतों में बहुत समानता है, परन्तु दोनों ही क्षेत्रों के गीत अलग–अलग हैं। अवधि लोकगीतों की तीन मुख्य विशेषताऐं हैं– प्रथम इसके गीतों में राममयता यानि लोकगीतों में प्रभु श्रीराम का वर्णन, दूसरी प्राकृतिक जीवन के साथ गहरा जुड़ाव तथा तीसरी लोकगीतों में सामान्य जीवन से साधारणीकरण। इन लोकगीतों में मिट्टी की गंध मुखरित होती है। यही गीत भावना के स्तर पर मनुष्य को मनुष्य से जोड़ते हैं। इन गीतों में जन्म से लेकर मृत्यु तक जीवन के विभिन्न संस्कारों की झाँकी देखने को मिलती है तथा सुख–दुःख, शकुन–अपशकुन, लोक विश्वास, धार्मिक व सांस्कृतिक उत्सव, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि इन लोक गीतों का वर्ण्य विषय है।

पूर्वी उत्तर प्रदेश में लोकगीत के कुछ मुख्य प्रकार हैं जैसे– ऋतु–सम्बन्धी लोकगीत–कजरी, चैती, बारहमासा, साठनी तथा सस्कारसंबधी लोकगीत–सोहर, सोहाग, विवाह गीत, बरूआ गीत, लाचारी इत्यादि। ये गीत के ऐसे प्रकार हैं जो हमारी सस्कृति एवं सभ्यता के प्रतीक हैं।

मुख्य शब्द : लोक गीत, संस्कृति, कजरी, चैती, बारहमासा, सोहर, सुहाग गीत

क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत विश्व में सातवाँ सबसे बड़ा देश है। यहाँ अनेक जातियाँ, अनेक धर्म, अनेक भाषाएँ हैं। प्रत्येक अपनी विशेषता रखते हैं। भाषा का भेद होते हुए भी भारतीय मानव ह्रदय के दुःख–सुख की अनुभूति उसकी स्थिति, परिस्थिति, आशा–निराशा एक–सी ही है। देश भर के गीतों में एकरसता है, समानता है। यही स्थितियाँ परिस्थितियाँ देश–भर के लोकगीतों में सिसकती, कसकती, मुस्कराती, खिलखिलाती, नाचती गाती दृष्टिगोचर होती हैं। यही लोकगीत कहलाते हैं। लोक गीत वह संगीत है जो अनायास ही सहज रूप से भावों को व्यक्त कर मानव को सुख–उल्लास, उमंग व प्रसन्नता से भर देते हैं। लोकगीत शब्द 'लोक' तथा 'गीत' के संयोग से बना है जिसका सामान्य अर्थ है लोगों के बीच में बैठकर गाये जाने वाले गीत। लोक साहित्य एवं लोकगीत में प्रयुक्त 'लोक' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लोक साहित्य के विशिष्ट अध्येता डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय लिखते हैं– आधुनिक सभ्यता से दूर अपने प्राकृतिक परिवेश में निवास करने वाली तथा शिक्षित–अशिक्षित एवं असंस्कृत जनता को लोक कहते हैं, जिनका जीवन परम्परायुक्त नियमों से नियंत्रित होता है।'' वहीं गीत का अर्थ उस कृति से है जो गाने योग्य हो। लोकगीतों को स्वतः स्फुरित संगीत भी कहा जाता है । संक्षेप में कह सकते हैं कि लोक में प्रचलित ऐसे गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है जिसके रचयिता ज्यादातर अज्ञात होते हैं तथा जिसमें लोक की भावानुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति होती है और जो पीढ़ी–दर–पीढ़ी मौखिक रूप से हस्तानान्तरित होते हैं। संगीत की दृष्टि से लोकगीत के कई रूप द्रष्टव्य होते हैं।

उत्तर प्रदेश भारत देश में लोक कलाओं में सबसे धनी राज्य माना जाता है, इसके विभिन्न प्रान्तों में सांस्कृतिक एवं सांगीतिक रूप से परिपूर्ण खण्ड प्राप्त होता है। यह लोक संगीत लोक कलाओं आदि सभी में अपनी परम्परा, रीति–रिवाज व रूचियों को अभिव्यक्त कर देता है। यह प्रदेश अपने ग्रामीण जीवन व साहित्यिक दृष्टि से सम्पन्न प्रदेश माना गया है। उत्तर प्रदेश के भिन्न–भिन्न अंचलों का संगीत अपनी मनमोहक छटा से

*शोध–छात्रा, दयालबाग एजुकेशनल इन्स्टीच्यूट, आगरा

इस प्रदेश को एकता के सूत्र में बाँधता है। यह प्रदेश भारत के उत्तरी भाग में अक्षांश 23″ 52″ और 31″ 18″ उत्तर तथा देशान्तर 77″ 3″ और 84″ 38″ पूर्व के मध्य में स्थिति है जिसे पाँच भागों में बाँट सकते हैं–उत्तर का पहाड़ी भाग, 2. गंगा–यमुना के बीच का दोआब, 3. गंगा और सरयू के बीच का भाग, 4. सरयू की ओर का प्रदेश तथा 5. दक्षिण का पहाड़ी भाग, जिसमें विन्ध्यांचल, मिरजापुर इत्यादि जिले सम्मिलित हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्र के अन्तर्गत कानपुर, प्रयागराज, मिर्जापुर, जौनपुर, दीनदयाल उपाध्याय, वाराणसी इत्यादि शहरों का भी समावेश है जहाँ की लोक भाषा अवधि एवं भोजपुरी है। दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि उत्तर प्रदेश के पूर्वी क्षेत्रों में शास्त्रीय और भक्ति संगीत के अतिरिक्त लोक संगीत भी प्रचुर मात्रा में विद्यमान है परन्तु वर्तमान में जनरूचि में हुए परिवर्तनों के कारण लोकगीत के कुछ ऐसे प्रकार हैं जो केवल हमारे पूर्वजों तक ही सीमित हैं तथा इनका प्रचार–प्रसार कम होता जा रहा है। हमारी लोक संस्कृति हमेशा से ही हमारी परंम्पराओं के साथ पीढ़ी–दर–पीढ़ी स्थानांतरित होती रही है। हमारे पूर्वजों द्वारा स्थापित की गई लोक संस्कृति को कुछ दशक पूर्व तक संरक्षित कर रखा गया, लेकिन वर्तमान समय में यह चोटिल है, आर्थिक उदारवाद से उपजे सांस्कृतिक संक्रमण ने सब कुछ जैसे ध्वस्त कर दिया है।

लोक संस्कृति के जिस हिस्से ने सर्वाधिक संक्रमण झेला है वो है लोकगीत। आज लोकगीत जैसे हर जगह (गाँव, टोलों, कस्बों) से गायब हो रहे हैं। कान तरस जाते हैं नानी दादी से सुने लोकगीतों को दुबारा सुनने के लिए। हमारे यहाँ हर त्योहार और परंपरा के अनुरूप लोकगीत रहे हैं और आज भी ग्रामीण और छोटे शहरी क्षेत्रों में रहने वाले बड़े बुजुर्गों में इनका कुछ ही स्थान शेष है। विवाह के अवसर पर राम–सीता और शिव–पार्वती के विवाह–गीत के साथ ही हर विधि के लिए अलग–अलग गीत, शिशु–जन्म पर सोहर, बिरहा, कजरी, सामा–चकवा, तीज, भाई–दूज, होली पर होरी, छठ पर्व पर छठी मईया के गीत, रोपाई–बिनाई के गीत, धान कूटने के गीत, गंगा–स्नान के गीत आदि सुनने को मिलते थे। जीवन से जुड़े हर शुभ अवसर के साथ ही रोजमर्रा के लिए भी लोक गीत रचे गये।

1. **कजरी**– यह पूर्वी उत्तर प्रदेश का सुप्रसिद्ध लोकगीत है जिसे सावन के महीने में गाया जाता है। प्रस्तुत लोक गीत प्रकार में वर्षा ऋतु का वर्णन होता है जिसमें विरह–वर्णन तथा राधा–कृष्ण की लीलाओं का वर्णन अधिकतर मिलता है। कजरी की प्रकृति क्षुद्र है। इसमें श्रृंगार–रस की प्रधानता होती है। आज कजरी के वर्ण्य–विषय काफी विस्तृत हैं, परन्तु कजरी–गायन का प्रारम्भ देवी–गीत से ही होता है। कजरी के मुख्य रूप से चार अखाड़े हैं– पं0 शिवदास मालवीय अखाड़ा, जहाँगीर अखाड़ा, बैरागी अखाड़ा, अक्खड़ अखाड़ा। यह मुख्यतः बनारस, बलिया, चंदौली और जौनपुर जिले के क्षेत्रों में गायी जाती है।

2 **चैती**– चैती उत्तर प्रदेश का, चैत माह पर केन्द्रित लोक–गीत है। यह माह भगवान श्री राम के जन्म का माह है। इसलिए इस गीत की हर पंक्ति के बाद अक्सर रामा यह शब्द लगाते हैं। यह भी मुख्यरूप से वाराणसी का ही लोक गीत प्रकार है। पहले केवल इसी गीत प्रकार को समर्पित संगीत समारोह हुआ करते थे जिसे 'चैता उत्सव' कहा जाता था। आज यह संस्कृति लुप्त हो रही है, फिर भी चैती की लोकप्रियता संगीत प्रेमियों में बनी हुई है।

3. **बारहमासा**– बारहमासा मूलतः विरह प्रधान लोकसंगीत है। वह पद्य या गीत जिसमें बारह महीनों की प्राकृतिक विशेषताओं का वर्णन किसी विरही या विरहनी के मुँह से कराया गया हो। वर्ष भर के बारह मास में नायक–नायिका की श्रृगांरिक विरह एवं मिलन की क्रियाओं के चित्रण को बारहमासा नाम से सम्बोधित किया जाता है। श्रावण मास में हरे–भरे वातावरण में नायक–नायिका के

काम–भावों को वर्षा के भींगते हुए रूपों में, ग्रीष्म के वैशाख एवं ज्येष्ठ मास की गर्मी में पंखों से नायिका को हवा करते हुए नायक–नायिकाओं के स्वरूप आदि उल्लेखनीय हैं। जब किसी स्त्री का पति परदेश चला जाता है और वह दुखी मन से अपने सखी को बारह महीने की चर्चा करती हुई कहती है कि पति के बिना हर मौसम व्यर्थ है। इस गीत में वह हर महीने की विशेषता के साथ पिरोकर रखती है।

4. **सोहर**– सोहर घर में संतान होने पर गाया जाने वाला मंगल गीत है। इसको संतान के जन्म और उससे संबंधित कहानियों और उत्सवों जैसे सतमासा, इत्यादि अवसरों पर गाया जाता है। इन गीतों में संतान के जन्म, उससे संबंधित कहानियों और उत्सवों के सुंदर वर्णन मिलते हैं। राम–जन्म और कृष्ण–जन्म की सुंदर कथाएँ भी सोहरों में हैं। भगवान राम के जन्मदिन रामनवमी और कृष्ण के जन्मदिन कृष्णाष्टमी के अवसर पर भी भजन के साथ सोहर गाने की परंपरा है।

सोहर गीत–

छापक पेड़ छिउलिया त पतवन धनवन हो
तेहि तर ठाढ़ हिरिनिया त मन अति अनबन होए
चर तई चरत हरिनवा त हरनी से पूछल होए
हरनी की तौर चरा झुरान ना पानी बिनु मुरझीले हो
हरिना आजु राजा के छटिहार तोहे मारी डरिए हो।।

5. **सुहाग**– शादी–विवाह के अवसर पर गीत गाने की परंपरा हमारे देश की संस्कृति का अभिन्न अंग है। इन गीतों के अभाव में विवाह के अवसर को पूर्ण नहीं माना जाता। ऐसे अनेक लोकगीत प्रचलित हैं, जो विवाह के अवसर पर गाये जाते हैं। परिवार की महिलाएँ ढोलक, मंजीरे की ताल पर सामूहिक रूप से इन गीतों को गाती थीं। प्रायः इन गीतों की धुन पर महिलाएँ नृत्य करती थीं।

सुहाग गीत–

बन्नो तेरी अखियाँ सुरमेदानी,
बन्नो तेरो टीका लाख का रे, बन्नो तेरी बिंदिया है हजारी।
बन्नो तेरो झुमका लाख का रे, बन्नो तेरी नथनी है हजारी।
बन्नो तेरो हरवा लाख का रे, बन्नो तेरा पेंडल है हजारी।
बन्नो तेरी चुड़ियाँ लाख की रे, बन्नो तेरी घड़ियाँ है हजारी।
बन्नो तेरी पायल लाख की रे, बन्नो तेरे बिछुआ है हजारी।
बन्नो तेरा लहंगा लाख का रे, बन्नो तेरा बिछुआ है हजारी।

6. **बरूआ गीत**– बरूआ गीत को उपनयन सस्कार के गीत भी कहा जाता है। उपनयन सस्कार के गीतों को ही छत्तीसगढ़ में बरूआ गीत कहा जाता है। इन गीतों के माध्यम से लड़कों को ब्राह्मण बनने के लिए उत्साहित किया जाता है। इन गीतों में व्यंग्य का प्रयोग बड़ा ही सुन्दर तरीके से किया गया है।

बरूआ गीत का उदाहरण– एक गीत इस प्रकार है जिसमें एक लड़का जिसका नाम है भीखम लाल, वह महगूं राय नाम के एक ब्राह्मण से कह रहा है कि उसे ब्राह्मण बना ले। महंगू राय उस लड़के से चैत्र महीनों में आने के लिए कहता है–

हाथे मां धरो छतरंगी
खखोरी चीपे पाटी हो,
बरूवा के बोलन
मोर बरूवा भीखम लाल,
हमका ब्राह्मण बनवा हो
पंडित के बोलेव मोर पंडित मरंगू?
हमका ब्राह्मण बनावा हो ।

लोकगीत के यह कुछ मुख्य प्रकार हैं जिन्हें वर्तमान समय में जन–साधारण द्वारा भुलाया जा रहा है जिनका संरक्षण अति महत्वपूर्ण हो गया है। क्योंकि यह लोकगीत हमारी संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा हैं।

Indian Folk Ballads

–Ruma Chakraborty*

The ballad is a poem that is typically arranged in quatrains with the rhyme ABAB or ABCB. Ballads are usually narrative, which means they tell a story. The 'ballad' derives its name from medieval Scottish dance song or 'ballares' (L. *ballare* – to dance). They were widely used across Europe and later in Australia, North Africa, North America, and SouthAmerica and also in India. The ballad is one of the oldest poetic forms in English. In India, the ballads are commonly known as "LokGatha". We also called them 'Indian Folk Ballads'. In India, ballads are always represented in the form of music, that's why people show their interest in them. Hence, the simplest way to think of a ballad is as a song or poem that tells a story and has a bouncy rhythm and rhyme scheme.

A typical ballad consists of stanzas that contain a quatrain, or four poetic lines. The meter or rhyme of each line is usually iambic, which means it has one unstressed syllable followed by a stressed syllable. In ballads, there are usually eight or six syllables in a line. Normally, the first and third lines are iambic tetrameter with four beats per line and the second and fourth lines are in trimeter with three beats per line. The stanzas are depending upon the story, i.e. it may be very long or short. Sometimes, there is a refrain found in ballads, i.e. repeated lines. These are present in the last line of each stanza (normally found in folk ballads).

Key Word : Folk, Ballad, Feature, Traditional, Regional, Literary

There are some important characteristic features of ballads / folk ballads are –

- Simplicity is the main characteristic features of a ballad.
- It has a simple and dramatic action.
- Presented in the form of Music.
- It has a refrain.
- Descriptive phrases.
- Dialogue used to create character and advance the story line.
- Impersonal language that does not belie the singer's personal feelings or judgment about the ballad content.
- The ballad often deals with the supernatural or great tales of heroics.
- The main feature of Indian folk ballad, it is written by unknown authors and it is passed from one generation to the next generation and so on.

Types of Ballads:

European ballads have been generally classified into three major groups –

1. Traditional ballads
2. Broadside ballads
3. Literary ballads

But, in general, only two types of ballads are performed, i.e.

1. Folk or Traditional Ballads
2. Literary Ballads

Folk or Traditional Ballads: It is a kind of ballad, which was developed by anonymous poets in the ancient times and handed down to our generation by word of mouth. There is no written evidence of folk ballad, although these ballads are passed

*Music Department, Patna University, Patna

through the customs of the society. It is a verbal sort of poetry, which underwent reasonable changes during the course of time due to new circumstances and conditions. The traditional or folk ballad had no single author rather it was the product of many poets. The author of the traditional ballad may be a common man, or a shepherd or a farmer.

Literary Ballads: It is actually an imitation of the traditional ballad. The only difference between the two ballads is the authorship. The author of the literary ballad is known personality. The poet is the legal owner of his/her ballads.

Different types of folk ballads are present in India. It is difficult to classify all of them. However, on a concrete basis, it may be categorized as its size, shape, or subject. According to its structure, it may be classified as small sized ballads and large sized ballads. But the actual classification is based on subject matter, which it is relates to. According to Dr. Krishna DevUpadhyay, Folk ballads are mainly classified into three parts-

1. Romantic Folk Ballads
2. Heroic Folk Ballads
3. Adventurous Folk Ballads.

In Romantic Folk Ballads, the story is mainly based on a romantic theme or love stories. The story deals about all the situations (either good or bad) of a couple's journey from the beginning to the end.

In Heroic Folk Ballads, the story is based on the bravery work done by a man or woman, who is the real hero or heroine of the story. It describes how he or she act/ react/ behave and deal with the drastic situation.

In Adventurous Folk Ballads, the story is based on thrill or adventurous journey of a person.

Regional Folk Ballads of India:

Different regions and their featured ballads-

- Assamese – Manikopar, Phulkunwar, Ajan Fakir, Maniram Devan, Barfukan, Krishak-Vidrohar, etc.
- Awadhi – Shri Ram-Sita, Shiv-Parvati, Raja Bharthari, Shravan Kumar, Chandrawali, etc.
- Angika – Lorik, Bihula Bala Lakhandar, Karubhagat, Rani Suranga, Kunwar Vijaymal, Gopi Chand, Bhartrihari, Meerayan, etc.
- Odia – Satya Harishchandra, Gopi Chand, Savitri Charitra, Satirah, Abhiyogatmak, Shokatmak, Sukhatmak, etc.
- Kannada – Uttaradevi, Honnadevi, Satyawati Lavni, Kitur Chenamma, Kannappa, Kabir Kamal, etc.
- Kumauni – Krishna Chandrawali, Bala-Haru, Nal-Damayanti, Mallikarjun, Narsa Dhauni, Malushahi, Jamala Bohri, etc.
- Konkani – Shravon, Banwad, Godde Ramayan, etc.
- Gujarati – Mojdin Mahetab, Hothalpadmini, Sati Ganak, Son-Halaman, Lorik-Chanda, Ravdudo, Dhola Maruni, etc.
- Garhwali – Rukmini-Haran, Chandrawali-Haran, SurajKunwar, Kusumakolin, Gangu Ramola, Bidhni Vijaypal, Baga Rawat, etc.
- Chattisgarhi – Ahiman Rani, Pandwani, Ful Basan, Kalyan Singh, Sita Ram Nayak, Dhola-Maru, Ful Kunwar, Lorik Chandaini, etc.
- Dogri–Mata Vaishno, Mata Kalka, Shitala Mata, Baba Kailu, Baba Jitto, Baba Surgal, Baba Nahar Singh, etc.
- Tamil – Alli Arsani Maale, Karal Kudi, Raja Desingh, Maduraiveerankaday, Kaatvarayan Kaday, Pulidevarsindu, etc.

- Telegu – Bobbili Katha, Deshigu Raju Katha, Hari Katha, Burra Katha, Paluraju Katha, Kambhojrajukatha, Katmaraju Katha, Palnoti Katha, etc.
- Tharu – Raja Dhanpal, Sahodara (Bhagwati), Raja Mansan, etc.
- Nagpuri – Shiv-Parvati, Ganesh, Radha-Krishna, Ram-Sita, Durga, Kali, Hanuman, etc.
- Punjabi – Dullabhatti, Shaheed Baba Deep Singh, Heer-Ranjha, Sohni-Mahiwal, Mirza-Sahib, Raja Rasalu, etc.
- Bangla – Gopi Chand, Gorakhnath, Mahipal, Bhogipalkilok-kathayein, etc.
- Bajjika–Lorikaun, Raja Salhes, Natua Dayal Singh, Vijomal, Ganinath Govind Amar Singh, Kewal Singh, Basawan, etc.
- Braj – Aalha, Heeraman, Dhola, Chandrawali, Gopichand, Bharthari, Mordhwaj, Guru Gugga, etc.
- Bagheli – Dhola, Raja Bharthari, Karan Daani, Basaman Mama, etc.
- Bundeli – Aalha, Rachhra, Saranga-Bharanga, Jagdevkapunwara, Sant Basant, Ram Katha and Krishna Kathaparakhaakhyan, etc.
- Bhojpuri –Aalha, Loriki, Vijaymal, Bapu Kunwar Singh, Shobha Nayaka Banjara, Sorthi, Bihula, Raja Bharthari, Raja Gopichand, etc.
- Maghi – Aalha, Lorikain, Kunwar Vijay, Reshma, Shobha Nayak, Saranga, Raja Dholan, Raja Bharthari, etc.
- Maithili – Lorik, Bihula, Salhes, Dina Bhadri, Gopichand, Bharthari, Vijaymal, Harichandar Dani, Dhanpal, Jai Singh, Kanak Singh, etc.
- Manipuri – Khamba Thoibi, Moirangsha, Jiladarbar, Khongjomparv, Sanglalembi, Fambal Kaba, etc.
- Marathi – Vasudevke Geet, Gondhli Geet, Jagran Geet, Bharadakegeet, etc.
- Malayalam – Unniyarcha, Aaromal, Tachcholi Otenan, Aarom Lunni, Irvikkutti Pilla, etc.
- Malvi – Heed Gaathayein, Bagdawat, Gopichand, Bharthari, Chain Singh, Dugji-Juwarjee, Sona-Rupa, Chandana Kunwar, Raja Nal, etc.
- Rajasthani–Pabuji, Devji Bagdawat, Nihalde Sultan, Dhola-Maru, Prithvi Raj, Jalal-Bubna, etc.
- Santali – Sidokanhu, Murmuhul Gaatha, etc.
- Sindhi – Dodo Chanesar, Mumal Rano, Leela Chanesar, Umar Mal, Laila-Majnu, Dhola-Maru, Shirin-Farhad, Heer-Ranjha, Deepchand, etc.
- Himachali – Negi Dayari, Jagta Pathaniya, etc.
- Hariyanvi – Nar Sultan-Nihar De, Aalha-Udal, Bhura Badal, Jaimal Fatta, Bhauka Saka, Amar Singh Rathor, Veer Jawaharmal, etc.

Conclusion–Ballads are the part of our customs. It shows the present situation of the societies. The beauty of the ballad is 'the long story telling' without knowing the name or the identity of the author. But, this long story telling will never bother you, because it is presented with the art of music. Music is the essential part of ballads. The sentiment, emotions and the feelings of the ballads are expressed through the songs and music, associated with them. It passes from generation to generation as custom of the society.

उत्तर भारतीय हिन्दुस्तानी संगीत के विकास में पंडित भातखण्डे जी का योगदान

-डॉ. कुमारी ऋचा*

पंडित भातखंडे का जन्म उस समय हुआ था जब संगीत की अभिजातीय परम्परा अपने मूल उद्देश्य से भटककर काल के गाल में समा गयी थी । पंडित जी ने निरंतर साधना और लगन से तत्कालीन संगीत-परम्परा को सुदृढ़ बनाते हुए स्वर-श्रुति-राग-थाट और ताल जैसे शास्त्र और क्रियात्मक पक्षों में सामंजस्य स्थापित कर वर्तमान हिन्दुस्तानी संगीत के मार्ग को एक नयी दिशा प्रदान की । भातखंडे जी के व्यक्तित्व में संगीत के एक कुशल संरक्षक, शास्त्रकार, ग्रंथों के प्रतिपादक, वाग्गेकार और एक उत्कृष्ट उद्धारक के रूप में दर्शन होते थे । पंडित जी का मूल उद्देश्य 'हिन्दुस्तानी संगीत' को प्रामाणिक एवं शास्त्राधारित स्वरूप प्रदान करना था ।

मुख्य शब्द : संगीत, शास्त्र पक्ष, क्रियात्मक पक्ष, शास्त्रकार, वाग्गेयकार,

संगीत का सम्बन्ध प्रत्येक मानव की आत्मा से जुड़ा होता है जिसकी अभिव्यक्ति मात्र से ही संगीत का स्वरूप उसके भाव के माध्यम से परिलक्षित होने लगता है । संगीत मानव हृदय का वो उद्‌गार है जो जन्म से लेकर मृत्यु तक उसके जीवन की कड़ी में अपना अस्तित्व बनाए रखता है । जिस प्रकार जीवन की प्रत्येक अवस्था को हम भाव से जोड़कर रखते हैं, संगीत उस अवस्था के भाव को अभिव्यक्त करने का हमें माध्यम प्रदान करता है ।

भारतीय संगीत के कालखंडों में सर्वप्रथम आचार्य वृहस्पति ने संगीत का उद्‌गम स्थान वेद को माना है । यद्‌यपि संगीत के स्वतंत्र विश्लेषणात्मक ग्रंथ हमें वैदिक काल में उपलब्ध नहीं थे फिर भी गीत, वाद्‌य और नृत्य से संबंधित कतिपय उल्लेख हमें वैदिक और पौराणिक ग्रंथों में प्राप्त होते हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से वैदिक काल खंड को संगीत का प्रथम चरण माना गया है । संगीत के विकास क्रम की पहली अवस्था महर्षि भरत के नाट्‌यशास्त्र से प्रारम्भ होती है जिसमें संगीत के स्वरूप का विश्लेषण हमें प्राप्त होता है । मध्यकाल में संगीत की दिशा को और मजबूती प्रदान करने के क्रम में पंडित शारंगदेव जी ने संगीत के विभिन्न पहलुओं के ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित किया और स्वर, श्रुति-व्यवस्था एवं सारणा-चतुष्टयी जैसी व्यवस्था एवं स्वरूप को स्थापित किया । मध्यकाल में संगीत के विभिन्न पक्षों को विकसित करते हुए विद्वानों ने बहुत ग्रंथों की भी रचना की, जिस क्रम में 'संगीत रत्नाकर' 'संगीत पारिजात' आदि ग्रंथों को महत्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है । भारतीय संगीत के प्राचीन एवं मध्य कालखंडों में वस्तुतः बहुत से परिवर्तनीय कार्य सम्पादित हुए, जिसने उत्तर भारतीय संगीत की वर्तमान स्थिति को स्थिर करने में सहयोग दिया परन्तु भारतीय संगीत अभी भी अपना वृहत स्वरूप स्थापित करने में असमर्थ था ।

आधुनिक कालखंड में पंडित विष्णु नारायण भातखंडे ने एक ऐसे महामानव के रूप में जन्म लिया जिसने हिन्दुस्तानी संगीत के विखरे अध्यायों को समेटकर तत्कालीन संगीत को एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया । वास्तव में यह तद्‌युगीन संगीत की एक महती आवश्यकता थी । पंडित भातखंडे का जन्म उस समय हुआ था जब संगीत की अभिजातीय परम्परा अपने मूल उद्देश्य से भटककर काल के गाल में समा गयी थी । पंडित जी ने निरंतर साधना और लगन से तत्कालीन संगीत-परम्परा को सुदृढ़ बनाते हुए स्वर-श्रुति-राग-थाट और ताल जैसे शास्त्र और क्रियात्मक पक्षों में सामंजस्य स्थापित कर वर्तमान हिन्दुस्तानी संगीत के मार्ग को एक नयी दिशा प्रदान की । भातखंडे जी के व्यक्तित्व में संगीत के एक कुशल संरक्षक, शास्त्रकार, ग्रंथों के प्रतिपादक, वाग्गेकार और एक उत्कृष्ट उद्धारक के रूप में दर्शन होते थे । पंडित जी का मूल उद्देश्य 'हिन्दुस्तानी संगीत' को प्रामाणिक एवं शास्त्राधारित

*शिक्षिका, +2 प्रोजेक्ट बालिका उच्च विद्यालय, आनन्दपुर, दरभंगा

स्वरूप प्रदान करना था । सांगीतिक परिषद्, सांगीतिक चर्चा, ग्रंथ-लेखन तथा प्रकाशन आदि कार्य तो बड़े-बड़े उत्सादों के बीच की बात है, किन्तु इस कला का सच्चा उद्धार तो तभी संभव था, जब संगीत-संबंधी विचारों को सामाजिक रूप से जनता-जनार्दन के अन्दर प्रतिष्ठापित किया जाय तथा संगीत को एक प्रमुख विषय के रूप में स्वीकृत करवाया जाय । इसे एक महनीय उद्देश्य के रूप मे पंडित जी ने अपनाया तथा कतिपय संगीत विद्यालयों की स्थापना, संगीत महाविद्यालयों की स्थापना तथा विश्वविद्यालयों में इसकी पढ़ाई की व्यवस्था करना, पाठ्यक्रम का निर्माण, उसे स्थानीय सरकारों द्वारा अनुशंसित करवा कर पाठ्यक्रमानुसार ग्रंथों की खोज-पूर्ण रचना करना मूल उद्देश्य में शामिल था ।

पंडित भातखंडे जी के सत्प्रयास के परिणाम स्वरूप आज का संगीत जनसामान्य का संगीत बन पाया है । इसी क्रम में पंडित जी ने संगीत के शास्त्र एवं क्रियात्मक दोनों प्रकारों के ग्रंथों की रचना की जिसके फलस्वरूप संगीत जनमानस के बीच पल्लवित, पुष्पित हो पाया है । शास्त्र-ग्रंथों के अन्तर्गत विभिन्न ग्रंथों का सृजन आपके द्वारा हुआ है, जो इस प्रकार हैं- (1) श्री मल्लक्षयसंगीतम् (2) अष्टोत्तरशततालल्क्षणम् (3) अभिनव राग मंजरी (4) भारतीय संगीत शास्त्र भाग-1,2,3,4 (5) पारिजात प्रवेशिका (6) राग-विवोध प्रवेशिका आदि ग्रंथ प्रमुख हैं । संगीत के क्रियात्मक ग्रंथों में ''हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति क्रमिक पुस्तक मालिका'' भाग एक से छः (1-6) एक ऐसा ग्रंथ है जिसमें रागों के स्वरूपानुसार विभिन्न घरानों की बंदिशों को स्वरलिपिबद्ध कर हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है जिससे संगीत शिक्षार्थी काफी सुगमता से संगीत-शिक्षा ग्रहण करने में सक्षम हो पाते हैं । एक स्थान पर सभी रागों का संकलन एवं स्वरलिपि उपलब्ध हो जाना, बहुत से रागों के अनसुलझे पहलू को सहज रूप से समझ पाना, संगीत के विकास में सबसे उत्कृष्ट परिवर्तन माना जाता है । पंडित भातखंडे जी ने अपने जीवन का बहुमूल्य समय संगीत की साधना में लगाकर बहुत से स्थानों का भ्रमण कर उत्तर भारतीय संगीत में ग्रंथ-लेखन, पाठ्यक्रम, शिक्षण-संस्थान एवं स्वरलिपि-पद्धति जैसे कार्यों को सम्पादित कर भारतीय संगीत को चर्मोत्कर्ष तक पहुँचा दिया । जगह-जगह संगीत संस्थानों का निर्माण संगीत का शिक्षा के साथ समन्वय आदि के द्वारा संगीत विषय को भी शिक्षण का विषय बना दिया । पंडित जी के इस योगदान ने उत्तर भारतीय संगीत को और समृद्ध बना दिया । संगीत वर्तमान समय में अन्य विषयों की भाँति शिक्षण के क्षेत्र में अग्रणीय है, जिसका पूरा श्रेय पंडित भातखंडे जी को ही जाता है ।

संगीत के गौरवशाली इतिहास में इस विद्वान के द्वारा किये गये सत्कार्य को युग-युगान्तर तक याद रखा जाएगा । उत्तर भारतीय संगीत के क्षेत्र में पंडित भातखंडे जी की कीर्ति अविस्मरणीय है ।

उत्तर भारतीय संगीत में उपशास्त्रीय गायन शैलियाँ

प्रो. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या' **-मणिकान्त कुमार***

उत्तर भारतीय संगीत में गायन के मुख्य रूप से दो प्रकार प्रचलित हैं जिसे 'शास्त्रीय' एवं 'उपशास्त्रीय' संगीत कहा जाता है । शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत ध्रुपद, ख्याल, तराना, चतुरंग आदि गायन-शैलियों का समावेश हुआ है, जो एक नियमबद्ध रचना है । उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत ठुमरी, टप्पा, कजरी, चैती, होरी, दादरा आदि गायन-विधाओं को रखा गया है । इन शैलियों के नियम शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा शिथिल होते हैं, जिससे श्रृंगार रस की उत्पत्ति होती है । इन शैलियों में क्षेत्रीय एवं सुलभ शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिसे साधारण जन भी समझ पाते हैं । सौन्दर्य एवं श्रृंगार रस से युक्त इस गायन शैली का प्रचार-प्रसार आधुनिक काल में अत्यधिक है ।

मुख्य शब्द : गायन, शैली, उपशास्त्रीय, ठुमरी, दादरा, होरी, चैती, कजरी

पंडित शारंगदेव ने गायन, वादन एवं नृत्य की त्रिवेणी को संगीत कहा है जिसमें गान्धर्व कलाओं में गान को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है । संगीत में वाद्ययंत्र का निर्माण गीत के बाद संगत करने के लिए किया गया । प्राचीन कालीन संगीत का अध्ययन करने से हमें यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में सर्वप्रथम अनिबद्ध गान का प्रचार था जिसके चार प्रकार प्रचलित थे जो- रागालाप, रूपकालाप, आलप्ति और स्वस्थान हैं ।[1] उसके पश्चात् संगीत में गायन के साथ लय देने के लिए झांझ, मंजीरा, डमरु आदि का प्रयोग किया जाने लगा । धीरे-धीरे उसके साथ वीणा, मृदंग, दर्दुर आदि वाद्ययंत्रों का भी प्रयोग किया जाने लगा जिससे उसकी गणना निबद्ध संगीत के अंतर्गत होने लगी । पंडित शारंगदेव ने अपने ग्रंथ 'संगीत रत्नाकर' में निबद्ध गान के तीन प्रकारों का वर्णन किया है जो प्रबंध, वस्तु एवं रूपक हैं । इस प्रकार, संगीत में गायन एवं वादन प्रारंभ हुआ । इसके साथ नृत्य का लगाव बाद में हुआ, ऐसा माना जाता है । इस प्रकार संगीत में गायन, वादन एवं नृत्य को जोड़कर इसकी पूर्णता की गई । प्राचीन काल में पूरे भारत में संगीत की केवल एक पद्धति प्रचलित थी, लेकिन मध्यकाल में प्रवेश करते-करते शारंगदेव के समय के बाद भारत में संगीत की दो पद्धतियों का उदय हुआ जिसे हिन्दुस्तानी संगीत एवं कर्नाटकी संगीत कहा जाता है ।[2] भारत में संगीत के इन दो पद्धतियों के होने का मुख्य कारण भारत पर विदेशियों का आक्रमण था ।

चूंकि 11वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही भारत पर विदेशियों का आगमन होने लगा था और यूनान तथा फारस के लोग यहाँ आ कर बसने लगे थे । इन विदेशी शासकों के साथ उनके संगीत कला मर्मज्ञ भी भारत आये, जिसका प्रभाव धीरे-धीरे भारतीय संगीत पर पड़ने लगा । उनके साथ प्रसिद्ध संगीतज्ञ हजरत निजामुद्दीन औलिया और उनके प्रमुख शिष्य अमीरो खुसरो के अतिरिक्त कई यूनानी कलाकार भारत आये । यूनानी संगीत का प्रभाव मुख्य रूप से उत्तर भारत पर पड़ा क्योंकि भारत में मुसलमानों का प्रवेश अफगानिस्तान होते हुए पंजाब के रास्ते भारत में हुआ था । उसका उपनिवेश उत्तर मध्य भारत, पूरब एवं पश्चिम क्षेत्र तक ही सीमित रहा । यहाँ का मौसम एवं जलवायु उनके उपयुक्त होने के कारण विदेशी इधर ही सिमट कर रह गये । दक्षिण भारत की भौगोलिक स्थिति अनुपयुक्त होने के कारण विदेशी प्रभाव से वह अछूता रहा । इस तरह उत्तर भारत में यूनानी एवं भारतीय संगीत के मिश्रण से एक नवीन संगीत-शैली का उदय हुआ जिसे 'हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति' कहा गया । इस प्रकार, भारत में दो संगीत पद्धतियों का उदय हुआ । शारंगदेव ने अपने ग्रंथ में संगीत की एक ही पद्धति का वर्णन किया है जिससे यह स्पष्ट होता है कि

*एस.आर.एफ., यू.जी.सी. (संगीत), वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि. विश्वविद्यायल, दरभंगा

उनके बाद नवीन पद्धति का प्रचार हुआ । आज भी 'संगीत रत्नाकर' ग्रंथ को एक अविभाज्य ग्रंथ के रूप में माना जाता है और सम्पूर्ण भारत के संगीत विद्वानों के बीच यह एक आधार ग्रंथ रूप में पूजा जाता है । दोनों संगीत-पद्धतियों का उद्‌गम स्थान एक होने के कारण अनेक समानता है तो भिन्नता भी है । कुछ गायन-शैलियों एवं रागों के नाम समान है लेकिन उसका स्वरूप भिन्न है, कहीं नाम भिन्न है लेकिन उसका स्वरूप समान है जिसके बारे में अध्ययन एवं श्रवण करने से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है ।

उत्तर भारतीय संगीत में गायन के मुख्य रूप से दो प्रकार प्रचलित हैं जिसे 'शास्त्रीय' एवं 'उपशास्त्रीय' संगीत कहा जाता है । शास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत ध्रुपद, ख्याल, तराना, चतुरंग आदि गायन-शैलियों का समावेश हुआ है, जो एक नियमबद्ध रचना है । उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत ठुमरी, टप्पा, कजरी, चैती, होरी, दादरा आदि गायन विधाओं को रखा गया है । इन शैलियों के नियम शास्त्रीय संगीत की अपेक्षा शिथिल होते हैं, जिससे शृंगार रस की उत्पत्ति होती है । इन शैलियों में क्षेत्रीय एवं सुलभ शब्दों का प्रयोग किया जाता है जिसे साधारण जन भी समझ पाते हैं । सौन्दर्य एवं शृंगार रस से युक्त इस गायन शैली का प्रचार-प्रसार आधुनिक काल में अत्यधिक है । इन गायन शैलियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

ठुमरी :- यह एक आधुनिककालीन गायनशैली है, जो शृंगार रस से ओत-प्रोत होती है । इसमें स्वर, लय, ताल एवं शब्दों के माध्यम से शृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है । इसके पद अधिकतर युगल प्रेमियों से जुड़े होते हैं । आज इसका प्रचार इतना अधिक है कि प्रत्येक क्षेत्र में संगीत से संबंधित जितने भी जिज्ञासु श्रोता हैं सभी की जुबान पर इस शैली का नाम अवश्य ही रहता है । इस शैली में नायक-नायिका के बीच प्रेम का वर्णन शास्त्रीय संगीत की अन्य शैलियों की अपेक्षा अधिक होती है, इसलिए इसे महिला-प्रधान गायन-शैली माना जाता है लेकिन इस शैली का गायन पुरुष भी अत्यंत ही प्रभावशाली ढंग से करते हैं । संगीत के विद्वानों ने इसकी उत्पत्ति 'ठुम' और 'री' शब्दों के मिश्रण से माना है जिसमें 'ठुम' शब्द का अर्थ राधा की ठुमकती चाल, ठुमका, ठुमकी, ठिठोली आदि माना गया है और 'री' का अर्थ राधा द्वारा भगवान श्रीकृष्ण को रिझाने की बात कही गई है । इसकी उत्पत्ति 18वीं शताब्दी में लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में हुआ ऐसा संगीतज्ञों की मान्यता है । इसका गायन मुख्य रूप से दो प्रकार से किया जाता है- बोल-बाँट की ठुमरी और बोल-बनाव की ठुमरी । बोल-बाँट की ठुमरी को 'बंदिश की ठुमरी' भी कहा जाता है जिसमें शब्दों की अधिकता होती है । बोल-बनाव की ठुमरी में शब्दों का प्रयोग कम किया जाता है तथा उन्हीं शब्दों को विभिन्न प्रकार से बोल-बनाव कर अलग-अलग भाव प्रकट किये जाते हैं । आधुनिक काल में मुख्य रूप से इसके तीन अंग या घराना प्रचलित हैं जो पूरब अंग, पंजाब अंग और गया अंग नाम से प्रसिद्ध है ।

टप्पा :- 'टप्पा' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'टप्पना' शब्द से हुई है जिसका साधारण अर्थ उछलना, कूदना, छलांग लगाना है । यह एक प्रकार से चलते हुए गाये जानेवाला गीत होता है । टप्पा मुख्य रूप से पंजाब प्रदेश की लोकगीत शैली है जो वहाँ के ऊँटहारों के द्वारा चलते हुए गाया जाता है । इस लोक गीत को एक नये स्वर एवं स्वरूप तथा शब्दों के द्वारा रंग देकर नवीन गायन-शैली के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय गुलाम रसूल के पुत्र शोरी मियाँ या गुलाम नवी शोरी को जाता है । इसका गायन मुख्य रूप से 16 मात्रा के पंजाबी ताल में किया जाता है जिसका प्रारंभ अधिकतर 12वीं मात्रा से किया जाता है और उसमें दानेदार तानों का प्रयोग किया जाता है । आधुनिक काल में यह भी एक लोकप्रिय गायन-शैली मानी जाती है जिससे शृंगार रस की उत्पत्ति होती है ।

होरी :- 'होरी' शब्द का सम्बन्ध उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत धमार गायन-शैली के साथ जोड़ा गया है क्योंकि धमार गायन-शैली में होरी के साहित्य का वर्णन मिलता है । इसकी उत्पत्ति प्राचीन कालीन 'चर्चरी' नामक प्रबंध से मानी गई है । यह एक प्राचीनकालीन गायन-शैली है जिसका वर्णन हमें वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है । यह एक लोक एवं त्यौहार गीत का प्रकार है जो आधुनिक

काल में शास्त्रीय गायकों के गले में आने के कारण इसमें स्वरों एवं शब्दों के प्रयोग होने से इसे उपशास्त्रीय शैली के अन्तर्गत भी गाया जाता है । इसका गायन मुख्य रूप से होरी पर्व के अवसर पर किया जाता है जिसके पदों में राधा-कृष्ण से संबंधित साहित्य दृष्टिगोचर है । इसके गायन में संगति करने के लिए 14 मात्रा की धमार ताल का प्रयोग किया जाता था, लेकिन आधुनिक काल में इस ताल के अलावा कहरवा, दारदा, रूपक आदि तालों का भी प्रयोग किया जाता है ।

कजरी :- 'कजरी' शब्द संस्कृत भाषा के 'कज्जल' शब्द से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ कालिमा, कालौह, कालिख आदि हेाता है । यह एक प्रकार का ऋतु गीत है जो मुख्य रूप से श्रावण-भाद्रपद माह में गाया जाता है । इस शैली का गायन वैसे तो सम्पूर्ण उत्तर भारत में किया जाता है लेकिन इसका प्रमुख केन्द्र उत्तर प्रदेश के मिर्जापुर को माना गया है जहाँ इसका गायन पूरे रीति-रिवाज के साथ किया जाता है । वर्षा ऋतु में कजरी की नायिका अमराई में झूला डालकर गीत का गायन किया करती है ।

दादरा :- 'दादरा' गायन-शैली ठुमरी विधा से बहुत मिलती-जुलती है । यह हिन्दुस्तानी संगीत में बहुत खनकदार गायन-शैली है । इसकी उत्पत्ति के संबंध में ऐसा माना जाता है कि जब ठुमरी-शैली का दादरा ताल में गायन किया गया तो इस एक नवीन गायन-शैली का जन्म हुआ जिसका नाम उसी ताल के नाम पर 'दादरा' रखा गया । आधुनिक काल में कई दादरा गीत दादरा के अतिरिक्त तालों में भी गाये जाते हैं । इसमें भाव-अनुकूल शब्द, जैसे- सैंया, सांवरिया, रसिया यह पुकारते हुए सम्बोधन, का करुँ, कैसे जाउँ, तुम जाओ आदि मनमोहक शब्दों का प्रयोग बहुत ही मधुरता एवं कोमलता के साथ किया जाता है ।

चैती :- यह एक मासिक गीत का प्रकार है जो मुख्य रूप से चैत माह में गाया जाता है । इस गीत में भगवान राम की लीलाओं का वर्णन होता है । होली के प्रारंभ के साथ ही चैत माह की शुरुआत होती है तब इस गीत का गायन किया जाता है । चैत के समय हवा में एक सुखकारी मनमोहकता होती है, पके हुए गेहूँ के फसल की खुशबू, नदियों का ठंडा जल, ऐसे वातावरण में इस गीत का गायन अत्यंत ही मनमोहक होता है । इस शैली का गायन लोक एवं उपशास्त्रीय दोनों के अन्तर्गत किया जाता है । कुछ संगीत के विद्वान् उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत गाये जाने वाले चैती के प्रकार को 'चैता' भी कहते हैं । इस शैली में चैती के शब्दों को विभिन्न प्रकार के स्वर-समूहों में पिरोकर ठुमरी की भांति ही बोल-बनाव किया जाता है जो इसे लोक संगीत से अलग करता है ।

उपर्युक्त उपशास्त्रीय गायन-शैलियों का वर्त्तमान समय में बहुत प्रचार है ।

संदर्भ सूची :

1. सिंह, ठाकुर जयदेव, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ.- 407
2. पाण्डे, डॉ. आशा, मध्यकालीन संगीत शैलियों का उद्‌गम एवं विकास, पृ.- 24
3. शुक्ल, डॉ० शत्रुघ्न, ठुमरी की उत्पत्ति, विकास और शैलियाँ, पृ.- 07
4. वृहस्पति, आचार्य, संगीत चिन्तामणि, पृ.- 83
5. कारवल, श्रीमती लीला, ठुमरी परिचय, पृ.- 15
6. पैन्तल, डॉ. गीता, पंजाब की संगीत परम्परा, पृ.- 73
7. माथुर, डॉ. नीता, हिन्दुस्तानी, संगीत में होरी गान, पृ.- 16
8. पैन्तल, डॉ० गीता, पंजाब की संगीत परम्परा, पृ.- 82

ध्रुवपद : एक अध्ययन

प्रो. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या' **-प्रेरणा कुमारी***

'ध्रुवपद' भारत की प्राचीन गायन-शैली है । यह अत्यंत प्रसिद्ध और समृद्ध गायन-शैली है । यह हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत हवेली संगीत से जुड़ी प्रमुख मुखर शैलियों की सबसे पुरानी शैली है जो दक्षिण भारतीय कर्नाटक परंपरा से भी संबंधित है । 'ध्रुवपद' एक संस्कृत शब्द है जो ध्रुव (अचल स्थायी) और पद (पद्य) शब्दों के अनुपम संयोजन से बना है जिसका अर्थ 'स्तंभ' है । 'ध्रुवपद' का शाब्दिक अर्थ+पद अर्थात् जिसके नियम निश्चित हों, अटल हों एवं जो नियमों में बँधा हुआ हो । यह गायन अपने आप में परिपूर्ण है । ध्रुवपद का मूल अत्यंत ही प्राचीनतम है जो वेदों से चला आ रहा है ।

नाट्यशास्त्र के अनुसार- वर्ण, अलंकार, गान-क्रिया, यति, वाणी, लय आदि जहाँ ध्रुव रूप में परस्पर संबद्ध रहे, उन गीतों को 'ध्रुवा' कहा गया ।'' जिन पदों में उक्त नियमों का निर्वाह हो उन्हें 'ध्रुवपद' कहा जाता है ।

ध्रुवपद से पहले प्रबंध-गायन प्रचलित था । 'ध्रुवपद' इसी प्रबंध-शैली का एक प्रकार है । ध्रुवा जिससे ध्रुवपद शैली का विकास मानते हैं, ये गायन की भिन्न विधाएँ थीं । ध्रुवा नाट्य आधारित गीत थे, जबकि ध्रुवपद स्वतंत्र था । यह गीत संगीत संयोजन की आध्यात्मिक, वीर, विचारशील सदाचारी अंतर्निहित नैतिक ज्ञान का एक रूप है । 11वीं शताब्दी के संगीत ग्रंथ जैसे- 'संगीत मकरंद' और 14वीं शताब्दी के 'रागतरंगिनी' जैसे ग्रंथ ध्रुव और ध्रुव-प्रबंध दोनों पर चर्चा करते हैं ।

मुख्य शब्द : ध्रुवपद, संगीत, प्रबन्ध, गायन, घराना, बानी

आजतक सर्वसम्मति से यह निश्चित नहीं हो पाया कि ध्रुवपद का आविष्कार कब और किसने किया । इस संबंध में विद्वानों के अपने-अपने मत हैं । अधिकांश विद्वानों के अनुसार 15वीं शताब्दी में ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने इसकी रचना की । उन्होंने स्वयं भी कुछ ध्रुवपदों की रचना की । इतना तो निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि राजा मानसिंह ध्रुवपद के प्रचार-प्रसार हेतु काफी प्रयासरत रहे । उन्होंने ध्रुवपद के प्रचार हेतु काफी कार्य किए । अपने दरबारी गायक बैजू, बख्शू आदि को इस नवीन गीत-शैली में प्रशिक्षित किया । ध्रुवपद का शिक्षण देने हेतु विद्यालय भी खोले । 16वीं शताब्दी के भक्त संत और कवि संगीतकार स्वामी हरिदास जाने-माने ध्रुवपद गायक थे जो कृष्ण को समर्पित गीत गाते थे । अकबर के समय में स्वामी हरिदास, तानसेन, बैजूबावरा, गोपालनायक आदि प्रख्यात गायक ध्रुवपद ही गाते थे । स्वामी हरिदास और उनके परम शिष्य तानसेन के साथ ही ध्रुवपद मुगलों का दरबारी संगीत बन गया । जहाँगीर, शाहजहाँ और औरंगजेब तक के दरबार में महत्वपूर्ण स्थान 'कलावंतों' को ही प्राप्त था, जो ध्रुवपद गायक या बीनकार थे । इस काल में ध्रुवपद गायक को 'कलावंत' कहा जाता था ।

प्राचीन काल में संस्कृत श्लोकों को गाकर ऋषि-मुनि भगवान की अराधना करते थे ।

'अनूप संगीत रत्नाकर' ग्रंथ में ध्रुवपद का उल्लेख-

गीर्वाणमध्यदेशीयभाषासाहित्यराजितम् ।
द्विचतुर्वाक्संपन्नं नरनारीकथाश्रयम् ।।
शृंगाररसभावाद्य रागालापपदात्मकम् ।
पादांतानुप्रासयुक्तं पादानयुगकं च वा ।।
उद्ग्राहध्रुवकाभोगांतर ध्रुवपदं स्मृतम् ।
प्रतिपादं यत्र वद्धमेव पादचतुष्टयम् ।।

पंडित भातखंडे के अनुसार- 'ध्रुवपद गंभीर प्रकृति की गायन शैली है ।' इसे गाने से कंठ और फेफड़े पर बल पड़ता है । अत: इसे 'मर्दाना और जोरदार शैली' का गायन कहा गया ।

प्राचीन ध्रुवपद के पाँच भाग- उदग्राह, मेलापक,

*शोध-छात्रा, संगीत, ल.ना.मि. विश्वविद्यायल, दरभंगा

ध्रुव, अंतरा और आभोग थे । कुछ समय पश्चात् उद्ग्राह और मेलापक आपस में मिलकर एक खंड बन गए जिसे स्थायी कहा गया । इस प्रकार आधुनिक ध्रुवपद के चार भाग स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग बने । 'ध्रुवपद' की शैली हेतु अत्यधिक श्वास-नियंत्रण की आवश्यकता होती है । इसका गायन नायक, ईश्वर और राजाओं की प्रशंसा हेतु करते थे । ध्रुवपद में आलापचारी का महत्व होता है । सुंदर आलाप ध्रुवपद के प्राण हैं । नोम-तोम् की आलापचारी ध्रुवपद-शैली की विशेषता है । प्राचीन काल में ॐ अनंत हरि नारायण आदि भक्ति वाचक शब्दों का प्रयोग किया जाता था । बाद में इसका स्थान नोम-तोम ने ले लिया । शब्द अधिकतर ईश्वर आराधना से युक्त होते हैं । 'गमक' का विशिष्ट महत्व है । यह गायन शैली वीर, श्रृंगार, शांत आदि रसों से युक्त होते हैं । ''भारतीय संगीत में ध्रुवपद ही ऐसी गान विधा दिखायी पड़ती है, जिसमें स्वर, पद ताल, इन तीनों का ही समुचित प्रयोग होता रहा है और इसलिए ध्रुवपद को भारतीय संगीत की सभी श्रेष्ठ विधाओं में शीर्ष व श्रेष्ठ स्थान मिला ।[1]

शास्त्रीय संगीत के पद, ख्याल, ध्रुवपद आदि का जन्म ब्रजभूमि में होने के कारण इन सबकी भाषा अधिकतर ब्रज भाषा है । 'ध्रुवपद' का विषय समग्र रूप से ब्रज का रास ही है । कालांतर में ख्याल की उर्दू शब्दावली का प्रभाव भी ध्रुवपद की रचनाओं पर पड़ा । स्वामी हरिदास की रचनाओं में गायन-वादन और नृत्य-संबंधी अनेक पारिभाषिक शब्द, वाद्ययंत्रों के बोल एवं नाम तथा नृत्य के तालों व मुद्राओं के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं । सूरदास द्वारा रचित ध्रुवपद के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं । सूरदस द्वारा रचित ध्रुवपद अपूर्व नाद सौन्दर्य, गमक एवं विलक्षण शब्द संयोजन का उदाहरण है । डा० पुरु दधीच द्वारा हाल के समय में ध्रुपद पर नृत्य की परंपरा, जो काफी प्राचीनतम थी, देखा गया है ।

ध्रुवपद अधिकतर चौताल, सूलफाक, झंपक, तीव्रा, ब्रह्मताल, रूद्रताल आदि तालों में गाए जाते हैं । ध्रुवपद में तानों के प्रयोग के स्थान पर दुगुन, तिगुन, चौगुन बोलतान आदि का प्रयोग होता है ।

करम इमाम ने अपनी पुस्तक 'मआदन-उल-मौसिकी' में ध्रुवपद की चार बानियों का वर्णन किया है- गोबरहार, खण्डार, डागुर और नौहार ।[2] ग्वालियर निवासी तानसेन 'गोबरहार', खण्डहार निवासी समोखन सिंह 'खण्डार', दिल्ली के डांग निवासी ब्रजचन्द 'डागुर' और नौहार जाति के श्रीचन्द नौहार बानी के प्रवर्तक थे ।[3]

ध्रुवपद गायक जो डागर घराने से संबंधित हैं वे गायन में सारंगी या हारमोनियम जैसे सहायक वाद्यों का सहारा नहीं लेते हैं केवल तानपुरा ही पृष्ठभूमि में बजाए जाते हैं हालांकि दरभंगा परंपरा के कलाकारों द्वारा सारंगी का प्रयोग देखने को मिलता है ।

पंडित भातखंडे द्वारा सैकड़ों ध्रुवपद-धमार की बंदिशों का संग्रह किया गया जो हमारी समृद्ध-परंपरा का बहुत अच्छा अनुस्मारक है ।

सन्दर्भ :

1. शुक्ला, शत्रुघ्न, ध्रुवपद सम्राट चन्दन जी चतुर्वेदी शताब्दी समारोह पत्रिका, पृ.- 98
2. इमाम, करम, मआदन-उल-मौसिकी, पृ.- 24
3. वही, पृ.- 233

सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना के नायक भिखारी ठाकुर एवं 'विदेसिया' नाटक का वर्त्तमान सांगीतिक परिदृश्य

प्रो. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या' **-अक्षय कुमार***

लोक संसार में, अपने जीवन की महानता का शिखर छू लेने वाले भिखारी ठाकुर की जीवन यात्रा वस्तुत: 'भिखारी' से 'ठाकुर' होने की यात्रा है। फर्श से अर्श तक पहुंचने की यात्रा है। सामाजिक व्यवस्था के निचले पायदान पर खड़े एक व्यक्ति की मनुष्यता के चरम तक पहुंचने की कथा है। एक सामान्य ग्रामीण के शिखर तक पहुंचने का बेजोड़ उदाहरण है जो भोजपुरी के महानायक के रूप में हमारे समक्ष विशालकाय खड़ा होता है समूचा लोक हमारी आंखों के सामने घूम जाता है।

जहाँ हम भोजपुरी लोकसंस्कृति में कुंवर सिंह को याद करते हैं, मंगल पांडे को याद करते हैं,वहीं लोक सांस्कृतिक तत्वों के समावेश के साथ सामाजिक चेतना और बोध के साथ भिखारी ठाकुर को भी याद करते हैं। भिखारी ठाकुर एक ऐसा व्यक्तित्व है जो आम को खास बना देता है और अपनी सामान्य लोकपरक आचरण-व्यवहार कुशल कला के माध्यम से संपूर्ण समाज को सोचने पर मजबूर कर देता है। उनकी यह कला 'नाच' और 'नाटक' का स्वरूप ले लेती है। जिसे संपूर्ण कला जगत में स्वीकार कर प्रतिष्ठा प्राप्त होती है ।

मुख्य शब्द : लोक, नाटक, नाच, संस्कृति, संगीत, कला

18 दिसंबर 1887 को जन्मे भिखारी ठाकुर ने उस समय की लोकप्रिय विधा 'नाच' और 'नाटक' के जरिए सामाजिक रूढ़ियों, भेदभाव और शोषण के खिलाफ प्रतिरोध की वह अलख जगाई कि सारण के एक अनजाने से गांव कुतुबपुर दियारा के नाई भिखारी से वह पूरे भोजपुरी अंचल के सांस्कृतिक और सामाजिक चेतना के नायक भिखारी ठाकुर बन गए ।

भिखारी ठाकुर गोस्वामी तुलसीदास को अपना काव्य गुरु मानते थे और 'रामचरितमानस' जैसी कालजयीकृति को अपना आदर्श माना था। उन्हें तुलसीदास, सूरदास, मीरा, रहीम, कबीर आदि की अधिकांश रचनाएं कण्ठस्थ थीं। भिखारी ठाकुर की विधिवत शिक्षा नहीं हुई थी और न हि काव्यशास्त्र की शिक्षा प्राप्त हुई थी। उनकी चौपाई, दोहा, कवित्त आदि की रचना में यह स्पष्ट दिखाई देता है कि इनके शास्त्रीय व्याकरण की अपेक्षा लोक अनुकरण पर अधिक बल दिया । भिखारी ठाकुर को माँ सरस्वती ने सुरीला कंठ तो दिया ही था। बचपन में गाय चराते वक्त साथियों के साथ रामायण, व्यवहार के गीतों का गायन करते, रामलीला, सत्संगों के अवसर पर तथा विभिन्न सामाजिक संस्कारों के गीतों को सुनने तथा अभ्यास करने से ही भिखारी ठाकुर की सांगीतिक चेतना प्रवीण हुई थी। उन्होंने अपने वाद्य-यंत्र में ढोलक, झाल, जोड़ी और कंसी को अपनाया था, बाद में हारमोनियम को भी अपनाया ।

भिखारी ठाकुर की रचनाओं में तीन भाग उनकी काव्य रचना है, जिसमें भजन-कीर्तन कविताएं हैं। उनकी रचनाओं में सभी रस मौजूद हैं, किंतु उनका मन जितना भक्ति और शृंगार में रमा है उतना अन्य रसों में नहीं। उनके लोकगीत, लोकसंगीत के स्वर-ताल-लय से युक्त होने के कारण और भी प्रभावी हैं। उन्होंने लोकसंगीत की प्रचलित विधाओं में गीतों का संयोजन किया है जिसमें कजरी, होली, चौता, चौबोला, बारहमासा, सोहर, विवाह-गीत, जतसार, सोरठी, आल्हा, पचरा, भजन एवं कीर्तन आदि प्रमुख हैं ।

भिखारी ठाकुर की जितनी भी मौलिक रचनाएँ हैं वे सभी अपने क्षेत्र की समस्याओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'विदेसिया' नाटक के माध्यम से उन्होंने स्त्री के विरह को प्रस्तुत किया है जो समय की सबसे बड़ी समस्या थी । 'विधवा-विलाप' में

*शोध छात्र, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि., दरभंगा

विधवा स्त्री के साथ होने वाले सामाजिक अत्याचार को प्रस्तुत किया है। 'गंगा-स्नान' नाटक में धार्मिक आडम्बर द्वारा समाज का खोखलापन, जबकि 'पुत्र-वध' नाटक में नारी चरित्र का विचलन प्रस्तुत किया है। 'गोबर-धिचोर' नाटक में जीते जागते इंसान को 'वस्तु' समझने की व्यथा दर्शाई गयी है। 'ननद-भौजाई' नाटक में बाल विवाह की समस्या तथा 'कलयुग-प्रेम' में समाज में बढ़ रही नशाखोरी की समस्या का चित्रण भिखारी ठाकुर ने किया है। जबकि 'बेटी-वियोग' नाटक में बेटी बेचने की कुप्रथा को दिखाया गया है ।

भिखारी ठाकुर के नाटकों में बहुत प्रसिद्ध और जिसने बाद में एक शैली का रूप ले लिया वह है 'विदेसिया'। यह बीसवीं सदी के दूसरे दशक की कथा है। विदेसिया का अर्थ है विदेश में रहने वाला या विदेश जाने वाला व्यक्ति। विदेशक अर्थ यहां भारत से बाहर या समुद्र पार से नहीं है बल्कि जीवन-यापन या अर्थोपार्जन के लिए प्रदेश गमन से है। इस नाटक में एक मजदूर की कहानी है जिसे यदा-कदा काम मिल जाता है, और जिसे अधिकांश समय बेबसी और लाचारी में गुजारना पड़ता है। उस व्यक्ति का विवाह भी हो जाता है कुछ समय उपरांत उसका गवना होताहै। अपनी नवविवाहिता पत्नी को घर ले आता है। प्यार से वह अपनी पत्नी को 'सुंदरी' नाम से पुकारता है। कुछ दिनों का समय तो अच्छे से गुजरता है लेकिन धीरे-धीरे घर की आर्थिक स्थिति खराब होने के कारण परेशान रहने लगता है। दूसरे लोगों को कोलकाता और अन्य राज्यों से रोजगार के लिए आते-जाते देखता था। घर की आर्थिक स्थिति को देखकर वह चुपचाप बिना बताए कलकत्ता (विदेश) चला जाता है। यहाँ नाटक में यही नायक 'विदेसिया' है जिसके इर्द-गिर्द समूचा कथानक है। यहाँ नाटककार ने पत्नी की चिंता, व्यथा एवं विरह को कुछ इस प्रकार वर्णन किया है गीतों के माध्यम से :-

'पिया गइले कलकत्तवा ए सजनी
.....
गोरवा में जुता नइखै, सिरवा पर छतवा ए सजनी
कइसे चलीहे रहवा, ए सजनी...।[1]

जबकि कलकत्ता पहुंचकर युवक वहाँ की संस्कृति को अपना लेता है और उसी रंग में रमजाता है। कुछ ही समय में रोजगार प्राप्त कर कुछ राशि इकट्ठा कर लेता है। नाटक के अनुसार इसी दौरान उसकी मुलाकात एक युवती से होती है उस युवती के मोह-पाश में बंध जाता है, और अपने साथ रखने लगता है। उसके साथ रहकर युवक अपना घर-गाँव को भूलने लग जाता है। उधर गाँव में उसकी पत्नी (सुंदरी) पति के वियोग में चिंतित रहती है। एक दिन सुंदरी को एक बटोही मिलता है वह बटोही भी काम की तलाश में कलकत्ता जा रहा होता है । उसे रोककर सुंदरी विनती करती है और बताती है कि उसका भी पति कलकत्ता गया है वहाँ जाकर भूल गया है। उससे अपना संदेश पहुंचाने का आग्रह करती है उसके आग्रह पर बटोही पूरी बात सुनता है और उसके दुख में चिन्तित होता है। जिन शब्दों में भिखारी ठाकुर ने सुंदरी की पीड़ा को व्यक्त किया है वह अत्यंत मार्मिक है-

'पिया मोर गइलन परदेश ए बटोही भईया ।
रात नाहीं त नीन नयनवा, ए बटोही भईया ।
सहतानी बहुते कलेश, ए बटोही भईया
एकोना भेजवलन सनेस, ए बटोही भईया ।[2]

बटोही प्यारी सुंदरी को सुनकर उसे वचन देता है कि वह कलकत्ता से उसके पति को ढूंढ कर उसके गाँव अवश्य भेजेगा। सुंदरी अकेली जानकर गाँव के कुछ युवकों द्वारा उसके साथ छेड़छाड़ करने की व्यथा से भी बटोही को अवगत कराती है और विनम्र विनती करती है कि 'मेरे पति को अवश्य वापस भेज देना'। बटोही कलकत्ता जाकर सुंदरी के पति को खोजना शुरू करता है। एक दिन भेंट हो ही जाती है। सुंदरी के पति को सुंदरी की विरह-दशा से अवगत कराता है। यह सुनते ही युवक को अपने गांव, अपनी नवविवाहिता पत्नी की याद आती है वह घर लौटने का निर्णय करता है लेकिन रखेलिन स्त्री उसे जाने से रोकती है, मना करती है परंतु विदेसिया निश्चय कर लेता है कि वह अपने गाँव वापस जाएगा ही। ऐसा पता चलते ही उसका मकान मालिक उसका सारा पैसा ले लेता है जिस

कारण वह खाली हाथ गाँव पहुंचता है। घर के बाहर से अपनी पत्नी को आवाज लगाता है, अपने पति की आवाज सुनकर सुंदरी की खुशी का ठिकाना नहीं रहता और घर का दरवाजा खोलती है लेकिन कुछ दिन बीतने के बाद कलकत्ता से रखेलिन पोटली बांध अपने दो बच्चों के साथ गाँव आ धमकती है। किसी तरह वे तीनों एक साथ रहने को राजी हो जाते हैं और अंत में मंगलकामना के साथ यहाँ समाप्त होती है कथा ।

विदेसिया नाटक संवाद एवं गीत-संगीत के कारण ही विशिष्ट एवं प्रभावी बना है। इस कहानी का प्रभाव इसके गीतों में है । उदाहरणस्वरूप- सुंदरी नायिका अपने पति के वियोग में रो-रो कर कह रही है...

"करिके गवनवा भवनवाँ में छोड़िके
अपने परइल पूरबवा, बलमुआ ।
अँखियाँ से दिन भर बितेला बलमुआ ।
गुलमाके नतिया आवेला जब रतिया
तिल-भर कलना परत, बलमुआ..."[3]

इस नाटक के माध्यम से रचयिता ने एक विदेसिया और उसकी पत्नी की मनोदशा का स्पष्ट चित्रण किया है जो तत्कालीन समाज का परिचायक है। आधुनिक युग में स्थितियाँ बिल्कुल भिन्न हैं। आवागमन तथा संपर्क सूत्र के कई साधन आज उपलब्ध हैं। किंतु आज से सात आठ दशक पूर्व की स्थिति बिल्कुल भिन्न थी, उस समय संपर्क, संवाद का कोई साधन नहीं था ।

इस नाटक में दृश्यों के माध्यम से तो इस स्थिति को सुस्पष्ट किया ही गया है परंतु इसके लोकपरक गीत ही इसकी जान हैं। उन गीतों के बोल, धुन और संगीत के साथ अभिनय की अभिव्यक्ति नाटक के कथानक के महत्व को और मजबूती प्रदान करते हैं । सर्वविदित है भिखारी ठाकुर के गीतों की परिपक्वता और उनके गीतों में दृश्यानुकूल क्षमता तो है ही, उसमें समाज की दशा और दिशा की भी अभिव्यक्ति है जो सर्वदा उपयुक्त एवं महत्वपूर्ण है। विभिन्न दृष्टिकोणों से उनके गीतों का मर्म सामाजिक पूर्णरूद्धार है। एक ओर, जहाँ उनके गीतों में लोकतत्त्व विद्यमान हैं तो उसमें शिक्षा, चेतना, समभाव भी है। पीड़ा है तो सुख का मार्ग भी है। गीत के अर्थपूर्ण शब्द हैं तो संगीत लोक लुभावनी स्वर-लय-ताल युक्त मधुरिमा है। कहीं बनावटीपन नहीं, सब कुछ सहजग्राह्य है। यही तो है भिखारी ठाकुर की विशेषता जो उन्हें हर चीज से अलग और विशिष्ट साबित करता है । वर्त्तमान परिदृश्य में भी यह नाटक उल्लेखनीय बन पड़ता है ।

संदर्भ:-

1. सिंह, प्रो० रामबुझावन, भिखारी ठाकुर रचनावाली, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना 2005, पृष्ठ संख्या 39
2. वही, पृष्ठ संख्या 37
3. वही, पृष्ठ संख्या 28

नुक्कड़ नाटक में संगीत का समायोजन

प्रो. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या' **-अविनाश तिवारी***

भारतीय इतिहास की परंपरा को देखा जाय तो पता चलता है कि प्राचीनकाल, बुद्धकाल, मौर्यकाल, गुप्तकाल, मुगलकाल आदि विभिन्न कालों में नुक्कड़ नाटक के द्वारा जनसाधारण सामाजिकता का भरपूर आनंद लेता आ रहा है ।

नुक्कड़ नाटक एक ऐसी नाटय विद्या है, जो परंपरागत रंगमंचीय नाटकों से बहुत अलग माना जाता है । किसी भी क्षेत्र, समाज, जाति के साथ-साथ क्षेत्रीय भाषा में नुक्कड़ का विशेष स्थान है क्योंकि यह रंगमंच पर नहीं बल्कि किसी सड़क, गली, चौराहे या किसी संस्थान के मुख्य द्वार अथवा किसी भी सार्वजनिक स्थान पर खेला जाता है । आमतौर पर इसकी रचनाएँ सामाजिक परिस्थितियों को देखते हुए समाज के संदर्भ में किसी एक लेखक द्वारा नहीं बल्कि अन्य कलाकार, बुद्धिजीवियों या आम जनता के द्वारा भी प्रदर्शित किया जाता है । भारत में आधुनिक नुक्कड़ नाटक को लोकप्रिय बनाने का श्रेय सफदर हाशमी को जाता है । उनके जन्म दिवस 12 अप्रैल को देशभर में राष्ट्रीय नुक्कड़ नाटक दिवस के रूप में मनाया जाता है ।

मुख्य शब्द : नाटक, नुक्कड़, संगीत, विधा, शैली

एक ऐसा कलाक्षेत्र जिसमें समस्त कलाओं का समावेश होता है, संसार के अनगिनत रंगों को एक मंच पर प्रस्तुत करने का अवसर हमें रंगमंच ही प्रदान करता है । रंगमंच के माध्यम से कलाकार अपने ही जीवन में कितने ही जीवन व्यतीत कर लेता है ।

नुक्कड़ ही वह पहला स्थान था जहाँ नाटकों के खेलने का अवसर मिला । आदिम युग में जब लोग दिन भर काम करके थक जाते तो मनोरंजन के लिए कहीं खुले में एक घेरा बनाकर बैठ जाते थे और उस घेरे के अन्दर बीचों-बीच उनका खाना बनता रहता, महिलाएँ गुनगुनाती रहती, खान-पान होता है और कहीं बाद में नाचना-गाना शुरू होता है । इस प्रकार, शुरू से ही नुक्कड़ नाटक में प्रदर्शन स्थल के रूप में एक घेरा, दर्शकों और अभिनेताओं का अंतरंग सम्बंध और सीधे-सीधे दशकों की रोजमर्रा की जिन्दगी से जुड़े कथानकों, घटनाओं और नाटकों का मंचन होता रहा ।

प्राचीनकाल से ही नाट्य कला में संगीत का प्रयोग होता रहा है । भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' की शुरुआत से लेकर अंत तक संगीत उसके साथ-साथ अवतरित होते रहते हैं । नुक्कड़ नाटक में शुरू से ही संगीत की बड़ी भूमिका रही है । जब हम इसकी शुरुआत करते हैं तो दर्शकों को बुलाने तथा समा बाँधने के लिए संगीत की शुरुआत की जाती है जिसकी आवाज सुनकर दूर-दूर के दर्शक नुक्कड़ स्थान पर तत्काल पहुँच जाता और चलते-फिरते दर्शक भी देखने और सुनने की इच्छा से रूक जाते हैं फिर बहुत सारे क्रांतिकारी गीतों, नाटकों व नृत्यों के प्रदर्शन से नुक्कड़ रंगकर्मी दर्शकों को सामाजिक परिस्थितियों का रस पान कराते । वैसे तो संगीत के बिना नाटक संभव ही नहीं है । संगीत तो नाटक का एक अभिन्न अंग है । भारत जैसे देशों में जहाँ विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न प्रकार की लोकनाट्य विधाएँ प्रसिद्ध हैं, जैसे रामलीला, रासलीला, नौटंकी, स्वांग, नकाल, माच, नाच, विदेशिया आदि जितनी भी परंपराएँ है, सभी गीत-संगीत से ओत-प्रोत हैं । इसी से हमें पता लग जाता है कि नाटकों में संगीत की भूमिका कितनी अहम् है ।

जहाँ तक नाट्यशास्त्र की बात करें तो मानते हैं कि नाट्यशास्त्र चार वेदों के तत्वों से बना, पंचम वेद है । जिसमें एक है सामवेद, और उसी से संगीत लिया गया तथा नाट्यशास्त्र में शामिल किया गया, तो इससे भी नाट्य में संगीत की महत्ता को दर्शाते हैं ।

क्योंकि नाटक एक ऐसी कला है जो अन्य कलाओं के सम्मिश्रण से बना है । जैसा कि एक पूर्णरूपेण नाटक करने के लिए हमें, कथा, गीत-संगीत, प्रकाश व्यवस्था, रूप-सज्जा, सेट आदि की जरूरत होती है । इन सारे तत्वों

*शोध-छात्र, वि.वि. संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि. विश्वविद्यायल, दरभंगा

में से अगर हम एक भी तत्व छोड़ देते हैं तो हमारा नाटक उतना सफल नहीं हो सकता जितना होना चाहिए ।

तो हम कह सकते हैं कि नाटक एक संवेदी कला है । इसमें संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है । शुरूआत के दिनों में नुक्कड़ में संगीत का प्रयोग कुछ कम था । बाद में नए-नए गीत-संगीत, धुनें तैयार हुईं जो नुक्कड़ नाटक में प्रयोग कर दर्शकों के बीच लोकप्रिय हुआ । यह जनता के लिए, जनता के बीच, जनता का नाटक होने के कारण, लोक- जीवन के घेरे में आता है । नुक्कड़ नाटक सिर्फ नाटक ही नहीं है बल्कि अस्त-व्यस्त जीवन में संघर्षशील व्यक्ति के जीवन का वास्तविक विलेख है । नुक्कड़ नाटक का मूल उद्देश्य जनता के बीच, जनता के द्वारा, जनता को जागरूक करना ।

हम कह सकते हैं कि नुक्कड़ नाटक जनता के लिए चौक-चौराहे, गली-मुहल्ला, उँचे-चबूतरे, पेड़ के नीचे खेला जाने वाला नाटक है । नुक्कड़ नाटक लोक-नाटक से भिन्न है । लोक-नाटक जनता का मनोरंजन करता है जबकि नुक्कड़ नाटक ऐसा नहीं करता है । नुक्कड़ नाटक एक तरह से जनांदोलन का भाग होता है, क्योंकि इसमें गरीबी, भूखमरी, अकाल, भ्रष्टाचार, एकाधिकार, अत्याचार, वर्णभेद के कारण अन्याय और शोषण जैसी प्रवृतियों पर प्रहार किया जाता है, इसी कारण नुक्कड़ नाटक उन स्थानों पर खेले जाते हैं जो किसी भी प्रकार की समस्याओं का मूल स्त्रोत होता है जैसे:- गली, चौराहे, कॉलेज, दफतर, कारखाना आदि । श्री मणि मधुकर ने कहा है कि "अगर मुझे प्रत्यक्ष और सामयिक लड़ाई लड़नी हो तो मैं नुक्कड़ नाटक लिखूँगा" ।

नाटक के लिए संगीत के महत्व को स्वीकार कर भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने मई 1951 में "संगीत नाटक अकादमी" बनाने का प्रस्ताव पारित किया था । वर्तमान युग में भी नाटककार तथा निर्देशक दोनों ही नाटक के लिए संगीत को अनिवार्य तत्व के रूप में स्वीकार कर चुके हैं ।

संदर्भ:-

1. चावला, टीना- हिन्दी नाटक और संगीत
2. रस्तोगी, गिरीश- रंगभाषा

पुस्तक समीक्षा

मूल पुस्तक - नादबिन्दूपनिषद्

अनुवाद एवं हिन्दी व्याख्या- **प्रो० पंकज माला शर्मा**

'नादबिन्दु' उपनिषद् एक उत्कृष्ट उपनिषद् है जिसके नाम से ही स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यह 'नाद' पर केन्द्रित है । इसमें 'नाद' तत्त्व और उसके रहस्य का विवेचन किया गया है । परन्तु इसके रचनाकार का पता नहीं चलता । इस उपनिषद् का सम्बन्ध ऋग्वेद अथवा अथर्ववेद से है । यह प्राचीन योग उपनिषदों के समकालीन मान्य है । इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में कई मत हैं । विभिन्न विद्वानों के मत अलग-अलग हैं ।

उपनिषदों में संगीत विषयक तत्त्वों का वर्णन मिलता है । इस ग्रन्थ के अनुवाद के क्रम में पाणिनी सूत्रों के अतिरिक्त वैदिक और संगीत शास्त्रीय अनेक ग्रन्थों के अध्ययन के बाद परिणाम तक व्याख्याकर्त्ता पहुँचीं । इस ग्रन्थ में 56 पद्यों को उल्लिखित विषय की दृष्टि से संपादित किया गया है । यद्यपि कहीं-कहीं पूर्णांश उपलब्ध नहीं होने की स्थति में प्राप्त अंश को ही सम्पूर्ण मान कर व्याख्यायित किया गया है । इस पुस्तक में तीन अध्यायों में प्रत्येक के तीन-तीन खण्डों में विषय को प्रतिपादित किया गया है । प्रथम अध्याय के 20 पद्य तीन खण्डों में, द्वितीय अध्याय में 21 पद्य तीन खण्डों में तथा तृतीय अध्याय में 15 पद्य तीन खण्डों में प्रदत्त हैं । प्रथम अध्याय के प्रथम खण्ड के प्रथम पाँच श्लोक में ओंकार की उपासना, द्वितीय खण्ड में ओंकार साधना तथा विभिन्न मात्राओं में प्राण वियोग का फल (पद्य सं. 6 से 16), तृतीय खण्ड में योगयुक्त स्थिति (पद्य सं. 17 से 20) वर्णित है । द्वितीय अध्याय के प्रथम खण्ड के 21 से 30 पद्य तक ज्ञानी के लिए प्रारब्ध का नहीं होना, द्वितीय खण्ड में 31 से 35 तक नादोपासना और तृतीय खण्ड के छः पद्यों में (सं. 36 से 41) नादानुसंधान का वर्णन है । इसी प्रकार, तृतीय अध्याय में पूर्व उल्लेखानुसार प्रथम खण्ड में (पद्य सं. 42-46 में) नाद के द्वारा मन को वश में होने, द्वितीय खण्ड में पाँच पद्यों में (पद्य सं. 47-51) नाद में लय और तृतीय खण्ड के पाँच पद्यों; यथा 52 से 56 तक, में मन के अमन हो जाने की स्थिति को दर्शाया गया है । अन्त में, वर्णानुक्रमानुसार श्लोक सूची भी दी गई है ।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य का सस्वर उच्चारण में महत्वपूर्ण स्थान है । वहाँ ओंकार को उच्चरित करने का विधान है । ऐसा ही ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों में भी स्पष्ट परिलक्षित होता है । उपनिषदों का अध्ययन हुआ है परन्तु आध्यात्म और योग की दृष्टि से । संगीत की दृष्टि से यह अध्ययन नहीं हो सका जिसकी अपेक्षा हमेशा से रही । उपनिषदों में, प्रमुख रूप से बिन्दु उपनिषदों में संगीत के क्रियात्मक पक्ष के सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन मिलता है । इस दृष्टि से 'नादबिन्दूपनिषद्' का हिन्दी अनुवाद एवं इसकी हिन्दी व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और समीचीन है । यह पुस्तक बहूपयोगी है ।

इस पुस्तक को संजय प्रकाशन, दिल्ली ने प्रकाशित किया है । व्याख्याकार ने इस पुस्तक को अपने गुरुवर्य वेदमनीषी प्रो. व्रजबिहारी चौबे तथा श्वश्रू संगीत विदुषी डॉ. सुधारानी शर्मा जी को समर्पित किया है । कुल सत्तर पृष्ठों की इस पुस्तक का ISBN - 978-93-88107-36-5 तथा मूल्य 200/- (कुल दो सौ रुपये मात्र) है ।

संगीत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ की अवकाशप्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष प्रो. प्रकजमाला शर्मा ने इस पुस्तक की रचना की है । 'नादबिन्दूपनिषद्' का अनुवाद एवं हिन्दी व्याख्या प्रो. शर्मा ने सुन्दर शब्दों एवं बोधागम्य भाषा में की है । अध्यायों से पूर्व प्रस्तावना में विषय का बहुत सुन्दर प्रतिपादन करते हुए विषय-प्रवेश के साथ उपनिषद् की व्याख्या, उपनिषदों की संख्या, उपनिषदों का रचनाकाल, उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय, उपनिषदों की भाषा, उपनिषदों के प्रवचनकर्ता एवं भाष्यकार का वर्णन विस्तारपूर्वक तेईस पृष्ठों में किया है । यह पुनीत कार्य इसलिए सम्भव हो पाया क्योंकि प्रो. शर्मा स्वयं वैदिक साहित्य और संगीत की विदुषी हैं । सुन्दर एवं आकर्षक कवर पेज में प्रकाशित यह पुस्तक अध्ययन हेतु आकर्षित करता है जहाँ पुस्तक के मूल 'उद्गीथ' का ध्यान चित्र दर्शाया गया है ।

-लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

कुमार प्रिन्टर्स

लाह बाजार, शिल्पी पोखरा, छपरा, सारण (बिहार)

"स्तोम" शोध-पत्रिका के सभी लेखकों का हार्दिक अभिनन्दन करता है ।